शान्ति के योद्धा प्रेमचन्द

लेखक

अमृतराय

हंस कार्यालय, बनारस

प्रकाशक :

अमृतराय

हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, बनारस

मुद्रक :

आलोक प्रेस, बनारस

प्रथम संस्करण सन् १९५० मूल्य ।≈)

इस पुस्तिका के नाम से संभव है आप कुछ चौंकें और अपने दिल में कहें—यह क्या फिजूल की बकवास है, शांति अगर विपन्न है तो आज, उसकी रक्षा के लिए और युद्ध के खिलाफ अगर कुछ संघर्ष चल रहा है तो वह भी आज, बेचारे प्रेमचंद को इस शांति के संघर्ष से क्या लेना-देना, उनको तो मरे भी चौदह साल हो गये, यह आदमी क्यों प्रेमचंद को खामखा इस चीज़ में घसीट रहा है—

मगर नहीं, अगर आप ऐसा सोचते हैं तो गलती करते हैं। शान्ति आज यह पहली बार नहीं विपन्न हो रही है। साम्राज्यवाद, जिससे ही सारे युद्ध पैदा होते हैं, आज की चीज़ नहीं है। वह प्रेमचंद के जीवनकाल में भी था। इसलिए प्रेमचंद के जीवनकाल में भी शांति बार बार विपन्न हुई थी। वह सब इतिहास यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। आज मलाया, वियेतनाम और कोरिया में जो कुछ हो रहा है वह भिन्न परिस्थितियों में वही चीज़ है जो अबिसिनिया और स्पेन और पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया और चीन में, प्रेमचंद के ही जीवन-काल में, हिटलर मुसोलिनी फ्रैंको और तोजो या दूसरे जापानी जंगी सरदारों के हाथ हो चुकी है। यह उसी साम्राज्यवादी विभीषिका की आवृत्ति है। ये दुनिया में आग लगाने की वही साज़िशें हैं जिन्हें हम पहले भी देख चुके हैं। जिन आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक कारणों से शांति के लिए खतरा पैदा होता है वे तब भी अपना काम कर रहे थे। हमें भूलना न चाहिये कि पिछले तीस-बत्तीस साल से फ़ासिज्म और युद्ध ही मरणासन्न पूँजीवाद का शेष संबल रह गया है, उसके जिन्दा रहने का अकेला ढंग। फिर, हमें यह भी न भूलना चाहिए कि जंगबाज़ सिर्फ फौजी मामलों में ही जंग की

तैयारी नहीं करते, वे समाज की जिन्दगी के बीस मोर्चों पर बीस तरीके से हमला करते हैं। कला और साहित्य पर उनकी निगाह सबसे पहले जाती है, सबसे पहले उसी कुएँ में जहर घोलने की कोशिश की जाती है क्योंकि उसी से समाज को जीवनरस मिलता है, ठीक उसी प्रकार जैसे दुश्मन की तोड़फोड़ करनेवाली टुकड़ियाँ सबसे पहले शहर के पानी की टंकियों में जहर मिलाती हैं। यह काम तरह-तरह की जन-विरोधी साहित्यिक विचारधाराओं को जनता के बीच फैलाकर किया जाता है। प्रेमचंद के सामने भी ये चीजें हो रही थीं और प्रेमचंद ने एक सच्चे जनवादी साहित्यकार के नाते उन प्रवृत्तियों से डटकर संघर्ष भी किया। मैं कहना चाहता हूँ कि उनका यह संघर्ष शांति का संघर्ष था। ये तो प्रेमचंद के साहित्य के ही आत्मगत कारण हैं जिनसे शांति के योद्धा के रूप में प्रेमचंद पर विचार करना जरूरी हो जाता है। दूसरा कारण है संसार की आज की भयावह, सांघातिक परिस्थिति जो मुझे इस बात के लिए मजबूर कर रही है कि मैं शांति के योद्धा के रूप में प्रेमचंद को देखूँ और दिखाऊँ ताकि हम और योग्यतापूर्वक अपनी शांति की रक्षा कर सकें। प्रेमचंद का साहित्य देशकाल के सामाजिक जीवन से अधिकतम गुंफन और सामंजस्य का साहित्य है; इसलिए आज जब कि संसार की और हमारे देश की जनता के सामने शांति का सवाल जीवन-मरण के सवाल के रूप में उपस्थित है, हमें प्रेमचंद को भी सबसे पहले उसी रूप में याद करना चाहिए।

संसार की मौजूदा गतिविधि अब किसी जागरूक आदमी से छिपी नहीं है। राजनीति की दुनिया में इस वक्त जो ठंढी और गरम तलवारें चल रही हैं, वे सब आपकी आँखों के सामने हैं। जो शुतुरमुर्ग की जाति के लेखक हैं यानी जो अपने एकांतवासी ऐकांतिक मन के रेगिस्तान में अपना सिर गाड़कर अपने को निरापद समझनेवाले लेखक हैं वे भी इन ठंढी और गरम तलवारों की छपाछप को, उनके लोहों के

आपस में टकराने की आवाज को अपने कानों से दूर न कर सकते। मगर जो शुतुरमुर्ग नहीं हैं, जो प्रेमचंद के अनुरागी हैं, साहित्य में प्रेमचंद की जनवादी परंपरा को आगे बढ़ानेवाले लोग हैं उनसे बात करने में तो और भी आसानी है। प्रेमचंद का साहित्य तो एक बहुत चौड़े राजमार्ग की तरह है जिस पर जनता के साहित्य और कला के सभी प्रेमी बहुत निर्द्वन्द्व होकर घूम सकते हैं, जिसमें कहीं कोई गलियाँ या अँधेरे कोने नहीं हैं, जो एक राजमार्ग है प्रेमचंद के हृदय से लेकर भारतीय जनता के हृदय तक।

और आज जनता के हृदय पर एक नये ऐटमी महायुद्ध की विकराल छाया पड़ रही है। कोरिया...चीन...महायुद्ध...कीटाणुयुद्ध... हाइड्रोजन बम...ऐटमबम... हिरोशीमा...एक हवाई जहाज एक हवाबाज़ एक ऐटम बम एक सेकण्ड और सत्तर हज़ार आदमी मुर्दा और एक लाख पैंतालिस हज़ार लँगड़े और लूले और अन्धे और काने और बहरे और ऐसे पुरुष जिनका पुंस्त्व और ऐसी स्त्रियाँ जिनका जननीत्व उसी विस्फोट के साथ चला गया है...ऐटम बम...इतिहास की आवृत्ति ...कोरिया...फारमोसा... वियेतनाम...मलय...पूर्वी जर्मनी... लड़ाई कहीं बढ़ न जाय...लड़ाई कहीं बढ़ न जाय...महायुद्ध... ऐटमी महायुद्ध...पूर्ण नर संहार...लाशें और लाशों से भी गये-गुजरे घायल...मैं...मेरा बच्चा...मेरी स्त्री...मेरी माँ...मेरी किताब...मेरा घर...मेरा बाग़ीचा...मेरा गुलाब...मेरी जुही...मेरा डेलिया...सबके पहलू में एक खंजर। वातावरण आतंक से बोझिल है, हवा में युद्ध की गूँज है। लोग भूखे हैं और नंगे हैं यानी संसार की शान्ति खतरे में है, गो लाखों-करोड़ों जो भूखे हैं उन्हें पता नहीं है कि उनकी भूख से शान्ति किस तरह खतरे में है। मगर यही परिस्थिति है। कुछ लोग अपने राग-रंग में मस्त हो सकते हैं पर ज्यादातर लोगों के लिए तो कहीं राग-रंग नहीं है, उनके लिए तो चौबीसो घण्टे और तीसो दिन

का नून-तेल-लकड़ी का रोना है, घर न मिलने का रोना है, लड़के या भाई की बढ़ी हुई फीस का रोना है। ध्र ुवों पर भी, भूगोल में कभी पढ़ा था कि अगर साल में छः महीने की रात होती है तो छः महीने का दिन भी होता है। यहाँ तो जनता की जिन्दगी बस एक लम्बी रात होकर रह गयी है, एक अजीब भूखी, परीशान, बेचैन अनमनी उनींदी-सी रात जिसमें अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट पालने की हाय-हाय को छोड़कर दूसरा कुछ भी नहीं है, जिसमें जिन्दगी की दूसरी, खूबसूरत चीज़ें तो अर्सा हुआ मर गयीं, मरकर जमीन में गड़ गयीं, जलकर राख हो गयीं। उनकी जिन्दगी को तो बस यों समझिए क लोग एक ठोस, अँधेरे, पथरीले से आसमान में पर मारते चले जा रहे हैं जब तक कि उनके डैने जवाब न दे दें। यह हाल उनका है जिन्हें पढ़ने-लिखने से भेंट नहीं है, साम्राज्यवाद ने, भारतीय सामंतवाद और पूँजीवाद ने जिन्हें अपना स्वार्थ साधने के हेतु मूर्ख और अशिक्षित रखा है। जैसा अभी मैंने कहा उन्हें अक्सर इस बात का पता नहीं होता कि उनकी भूख और जंग की साज़िशों का अंगांगि सम्बन्ध क्या है, कैसे उनकी भूख को कायम रखने ही के लिए जंग की तैयारियाँ की जा रही हैं और कैसे ये तैयारियाँ उनकी भूख को और भी बढ़ा रही हैं क्योंकि देश का जो पैसा उनके पेट को भरने और उनके तन को ढँकने के लिए खर्च होना चाहिए था, वह जंग के साज-सामान में खर्च हो रहा है।

जो लोग पढ़ना-लिखना जानते हैं और रोज़ सवेरे अखबार देखते हैं उनकी तो सरासर मौत है क्योंकि अखबार की एक-एक पंक्ति से बारूद की दुर्गन्ध निकलती है, पंक्तियों में बच्चों और बूढ़ों और बेकसजवान छोकरियों के खून के छींटे उछले हुए नज़र आते हैं, दुनिया के कोने-कोने में चिनगारियाँ छूटती दिखायी देती हैं, हर तरफ गरम बगूले उठते नजर आते हैं, सारा अखबार जंग की आग में

ऐसा काँपता जान पड़ता है जैसे जेठ के सूरज की आग में कोई चटियल मैदान। अखबार की एक-एक सुर्खी देखकर पढ़नेवाले का दम खुश्क हो जाता है क्योंकि हर सुर्खी में जंग ही की पास या दूर की गूँज रहती है। अखबार पढ़कर ऐसा लगता है कि हम सब पागलखाने में रह रहे हैं, यहाँ हर आदमी पागल है, पागल कुत्ता जिसके काटने पर चौदह तो क्या चौदह सौ सुइयाँ भी किसी को नहीं बचा सकतीं। इसी पागलखाने में हम-आप पड़े हुए हैं, पदप्रभुतासंपन्न, शक्ति-संपन्न पागलों के बीच जो हमीं को दाव पर लगाये हुए हैं, जिनकी भूखी निगाहें हमारे ही आपके भाई-बंधुओं की जिन्दगी पर हैं, हमारी ही आपकी क्यारी के फूलों पर, हमारे ही आपके सूर और तुलसी, रवीन्द्रनाथ और प्रेमचंद पर हैं। इसलिए यह और भी स्वाभाविक है कि आज इस चौदहवीं स्मृति-वार्षिकी के अवसर पर हम अपने प्रिय लेखक की याद शांति के योद्धा के रूप में करें।

इस संबंध में सबसे पहली बात है कि प्रेमचंद हिन्दुस्तान की मुकम्मल आजादी के साहित्यकार होने के नाते शांति के योद्धा हैं। उपनिवेशों की आजादी का आंदोलन जिस हद तक साम्राज्यवादी शासकों की ताकत को तोड़ता है उसी हद तक वह शांति का आंदोलन भी होता है क्योंकि ये साम्राज्यवादी ही जंगपरस्त होते हैं और अपने आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व के लिए संसार की शान्ति को खतरे में डालते हैं। इसलिए उनको कमजोर बनानेवाला हर आंदोलन शान्ति का आन्दोलन होता है। आपने प्रेमचंद की कहानियों और उपन्यासों को पढ़ा है। आपको मालूम है कि उनमें उन्होंने हिन्दुस्तान की साधारण जनता के जीवन को, उसके सुख-दुःख हर्ष-विषाद को और उसके आजादी के आंदोलन को एक सच्चे जनवादी देशभक्त की तरह चित्रित किया है। जिन्होंने सन् ३० के आन्दोलन-काल में उनके 'हंस' के

लेख पढ़े हैं वे जानते हैं कि वे एक ऐसे व्यक्ति के उद्गार हैं जिसने अपनी संपूर्ण प्रतिभा को देश के लिए अर्पित कर दिया है, जो अपनी कलम को आजादी के आन्दोलन के हथियार के रूप में इस्तेमाल करता है। 'समर यात्रा' की कहानियों और दूसरी भी अनेक कहानियों, 'कर्मभूमि' जैसे उपन्यास को पढ़कर भी ठीक यही भाव मन में आता है। यहाँ इस बात को भी खोलकर कहने की जरूरत है कि प्रेमचंद की देशभक्ति कोई शून्य, वायवी देशभक्ति नहीं, सच्ची जनवादी देशभक्ति है और उन्होंने जो कुछ लिखा है देश में जनता का शासन, जनवाद कायम करने के लिए लिखा है और साम्राज्यवादी शासकों के खिलाफ़ जनवाद का आंदोलन शांति का आन्दोलन भी होता है। इसी नाते प्रेमचंद शांति के एक अप्रतिम योद्धा हैं। उनकी आजादी, उनके जनवाद की रूपरेखा को अच्छी तरह से समझने के लिए इस विषय पर दो-एक उद्धरण देना अनुचित न होगा। डोमिनियन स्टेटस और स्वराज्य के संबंध में तुलनात्मक ढंग से विचार करते हुए उन्होंने मार्च सन् ३० में लिखा था :

> 'इंगलैंड का डोमिनियन स्टेटस के नाम से न घबड़ाना समझ में आता है। स्वराज्य में किस्तों की गुंजाइश नहीं, न गोलमेज़ का उलझावा है, इसलिए वह स्वराज्य के नाम से कानों पर हाथ रखता है। लेकिन हमारे ही भाइयों में इस प्रश्न पर क्यों मतभेद है, इसका रहस्य आसानी से समझ में नहीं आता। वे इतने बेसमझ तो हैं नहीं कि इंगलैंड की इस चाल को न समझते हों। अनुमान यही होता है कि इस चाल को समझकर भी वे डोमिनियन के पक्ष में हैं इसका कुछ और आशय है। डोमिनियन पक्ष को गौर से देखिए तो उसमें हमारे राजे-महाराजे, हमारे जमींदार,

हमारे धनी-मानी भाई ही ज्यादा नजर आते हैं। क्या इसका यह कारण है कि वे समझते हैं कि स्वराज्य की दशा में उन्हें बहुत कुछ दबकर रहना पड़ेगा? स्वराज्य में मज़दूरों और किसानों की आवाज़ इतनी निर्बल न रहेगी? क्या यह लोग उस आवाज़ के भय से थरथरा रहे हैं? हमें तो ऐसा ही जान पड़ता है, वह अपने दिल में समझ रहे हैं कि उनके हितों की रक्षा अँग्रेजी शासन ही से हो सकती है। स्वराज्य कभी उन्हें गरीबों को कुचलने और उनका रक्त चूसने न देगा। डोमिनियन का अर्थ उनके लिए यही है कि दो-चार गवर्नरियाँ, दो-चार बड़े बड़े पद उन्हें और मिल जायेंगे। उनका डोमिनियन स्टेटस इसके सिवा और कुछ नहीं है। ताल्लुकेदार और राजे इसी तरह गरीबों को चूसते चले जायेंगे। स्वराज्य गरीबों की आवाज है, डोमिनियन गरीबों की कमाई पर मोटे होने-वालों की।'

('हंस' की पहली संपादकीय टिप्पणी, मार्च, ३०)

क्या जो डोमिनियन स्टेटस हमको गौरांग महाप्रभु ने बतौर तोहफे के दिया है, उसकी असलियत यही नहीं है? उसका अगर कोई भव्य से भव्य चित्र खींचना चाहे तो वह भी क्या इससे अलग कुछ हो सकता है? क्या इससे यह चीज़ बिलकुल दिन की रोशनी की तरह नहीं साफ़ हो जाती कि जनता का दोस्त कौन है और दुश्मन कौन? क्या प्रेमचंद ने आज से बीस साल पहले अपनी भविष्यद्रष्टा आँखों से आज के हिन्दुस्तान को नहीं देख लिया था?

इसी टिप्पणी में आगे चलकर प्रेमचंद लिखते हैं:

'जिन्हें अँग्रेजों के साथ मिलकर प्रजा को लूटते हुए अपना स्वार्थ सिद्ध करने का अवसर प्राप्त है, वे इसके सिवा और कह ही क्या सकते हैं (कि महात्मा जी आग से खेल रहे हैं, समाज की जड़ खोदने वाली शक्तियों को उभार रहे हैं)। वे अपना स्वार्थ देखते हैं, अपनी प्रभुता का सिक्का जमते देखना चाहते हैं। उनके स्वराज्य में गरीबों को, मजदूरों को, किसानों का स्थान नहीं है। स्थान है केवल अपने लिए, मगर जिस व्यक्ति के हृदय में गरीबों की दिन-दिन गिरती हुई दशा देखकर ज्वाला-सी उठती रहती है, जो उनकी मूक वेदना देख देखकर तड़प रहा है, वह किसी ऐसे स्वराज्य की कल्पना से संतुष्ट नहीं हो सकता जिसमें कुछ ऊँचे दर्जे के आदमियों का हित हो और प्रजा की दशा ज्यों की त्यों बनी रहे। हमारी लड़ाई केवल अँग्रेज सत्ताधारियों से नहीं, हिन्दुस्तानी सत्ताधारियों से भी है। हमें ऐसे लक्षण नज़र आ रहे हैं कि यह दोनों सत्ता-धारी इस अधार्मिक संग्राम में आपस में मिल जायेंगे, और प्रजा को दबाने की, इस आन्दोलन को कुचलने की कोशिश करेंगे।...'

(उपरोक्त, मार्च, ३०)

अप्रैल, ३० में उन्होंने इसी सवाल पर एक दूसरे पहलू से विचार करते हुए लिखा :

'कुछ लोग स्वराज्य आन्दोलन से इसलिए घबड़ा रहे हैं कि इससे उनके हितों की हत्या हो जायगी और इस भय के कारण या तो दूर से इस संग्राम का तमाशा देख रहे हैं या जिन्हें अपनी प्रभुता ज्यादा प्यारी है वे परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सरकार का साथ देने पर आमादा हैं। इनमें अधिकांश

हमारे जमींदार, सरकारी नौकर, बड़े-बड़े व्यापारी और रुपये वाले लोग शामिल हैं। उन्हें भय है कि अगर यह आन्दोलन सफल हो गया तो जमींदारी छिन जायगी, नौकरी से अलग कर दिये जायेंगे, धन जब्त कर लिया जायगा। इसलिए इस आन्दोलन को सिर न उठाने दिया जाय। उन्हें ब्रिटिश सरकार के बने रहने में अपनी कुशल नजर आती है।...

इसमें सन्देह नहीं कि स्वराज्य का आंदोलन गरीबों का आंदोलन है। अँग्रेजी राज्य में गरीबों, मजदूरों और किसानों की दशा जितनी खराब है और होती जाती है, उतनी समाज के और किसी अंग की नहीं।...किसानों की हालत रोज-ब-रोज खराब ही होती जा रही है। उनपर लगान बढ़ता जाता है, सख्तियाँ बढ़ती जाती हैं। कौंसिलों में उनके हितों का कोई रक्षक नहीं। वे जमींदारों के चंगुल में इस बुरी तरह फँसे हैं कि दबाव में पड़कर वे उन्हीं को अपना प्रतिनिधि बनाने पर मजबूर होते हैं जो उनके हितों का भक्षण करते रहते हैं। कांग्रेस के मेम्बर या और लोग भी कभी-कभी न्याय और नीति के नाते भले ही किसानों की वकालत करें; लेकिन किसानों के नाना प्रकार के दुःखों और वेदनाओं की उन्हें वह अखरन नहीं हो सकती, जो एक किसान को हो सकती है। अतएव हमारे राष्ट्र का सबसे बड़ा भाग पीड़ित है। सब छोटे-बड़े उसी को नोचते हैं, सब उसी का रक्त और मांस खा-खाकर मोटे होते हैं; पर कोई उसकी खबर नहीं लेता। मजदूरों के संगठन हैं, सरकारी नौकरों ने भी अपने-अपने दल संगठित कर लिये, जमींदारों और महाजनों का दल भी व्यवस्थित है; मगर किसानों का कोई संघ नहीं। अगर

उनको संघटित करने की कोशिश की जाती है तो सरकार जमींदार, सरकारी मुलाजिम और महाजन सभी भन्ना उठते हैं। चारों ओर से हाय-हाय मच जाती है। बोलशेविज्म का हौआ बताकर उस आन्दोलन को जड़ से खोदकर फेंक दिया जाता है।××××

'...गरीबों की छाती पर दुनिया ठहरी हुई है यह कठोर सत्य है। हरएक आन्दोलन में गरीब लोग ही आगे बढ़ते हैं; यह भी अमर सत्य है। इस आन्दोलन में भी गरीब ही आगे-आगे हैं और उन्हीं को रहना भी चाहिए, क्योंकि स्वराज्य से सबसे ज्यादा फायदा उन्हीं को होगा भी; लेकिन ...स्वराज्य हो जाने से समाज के किसी अंग को कोई हानि नहीं पहुँच सकती, लाभ ही लाभ होंगे। हाँ, उनको अवश्य हानि होगी जो खुशामद और लूट और अन्याय के मजे उड़ा रहे हैं।×××××'

(अप्रैल १९३०)

इससे अब यह बिलकुल स्पष्ट हो गया कि सच्ची आजादी और जनवाद के योद्धा के रूप में प्रेमचंद शांति के योद्धा हैं। अब रत्ती भर संदेह की गुंजाइश नहीं है कि सच्ची आजादी और जनवाद से प्रेमचंद क्या मतलब समझते थे, स्वराज्य की उनकी क्या कल्पना थी (गांधी जी की क्या कल्पना थी उससे हमें यहाँ बहस नहीं), उसका कैसा रूप, कौन-सा वर्ग-आधार उन्होंने अपने मन की पूरी शक्ति से ग्रहण कर रखा था।

अब हम दूसरी बात पर आते हैं।

हम जानते हैं कि जंगपरस्त शक्तियों का जिस प्रकार से सैनिक मोर्चा दुनिया भर में तैयार किया गया है और इस क्षण भी किया जा रहा है,

उसी प्रकार से एक साहित्यिक-सांस्कृतिक मोर्चा भी तैयार किया गया है और इस क्षण भी किया जा रहा है। इस मोर्चे का काम है विचारों के क्षेत्र में गड़बड़ी और उलझाव पैदा करना ताकि जंग और जंग-परस्तों के खिलाफ़ जनता का कोई संयुक्त मोर्चा न बन सके। जनता का कोई युद्ध-विरोधी संयुक्त मोर्चा किसी भी तरह से न बनने देने में ही युद्ध चाहनेवालों का स्वार्थ है। अपने इसी स्वार्थ को साधने के लिए साम्राज्यवादी-पूँजीवादी अपने भाड़े के टट्टू कलम घिसनेवाले रखते हैं जिनका काम ही होता है लोगों के दिमागों को तरह-तरह से उलझाना, यही काम करने के लिए उन्हें पैसे मिलते हैं, लिहाजा बड़ी तनदिही से वे लोग अपना काम करते हैं और सदा इसी उलझाव की तरकीबें सोचा करते हैं। मैं इस बात को मानता हूँ कि वे तमाम लोग जो लेखकों के सामाजिक दायित्व से इनकार करते हैं या उनसे अलग-अलग या ऊपर होने की बात करते हैं, उन सब के सबों को इस चाकरी का मुआवजा या उजरत नहीं मिलती। मगर इससे वस्तुस्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता। 'लेखक समाज और उसके संघर्षों से अलग होता है, उनके ऊपर होता है' 'लेखक को राजनीति से क्या बहस' आदि बातें पिछले बीस बरसों में इतनी बार कही गयी हैं कि उनमें अब कोई नयापन बाकी नहीं रहा। विशुद्ध, समाजेतर साहित्य के उपासक कुछ आलोचकों ने इसी नाते प्रेमचंद पर प्रोपेगैंडा का आरोप लगाया है। इस प्रकार का आरोप लगाने के पीछे उनका उद्देश्य होता है लेखक यानी समाज के सबसे भावुक और साथ ही मुखर, वाणी-संपन्न प्राणी को सामाजिक न्याय के संघर्ष में से बाहर कर देना ताकि अन्याय और शोषण का व्यापार ज्यों का त्यों गर्म रक्खा जा सके। इसीलिए जब कोई लेखक समाज के किसी शोषित, पीड़ित, गरीब, दुःखी अंश के जीवन की सच्चाई को महसूस कर सहानुभूति के साथ उसका चित्रण करता है तो

उसके खिलाफ यही प्रोपेगंडा की चिल्लपों मचायी जाती है जिसमें कि डरकर, घबराकर, उलझन में पड़कर गरीब दुखियारों का पक्ष लेना छोड़ दे। अगर सब लेखक और कवि, या कलाकार और सोचने-विचारने वाले लोग इस प्रकार गरीबों का पक्ष लेकर अन्यायी को चुनौती देने लग जायेंगे तब तो समझो जंगपरस्त साम्राजी डाकुओं, मेहनतकश जनता को लड़ाकर अपना उल्लू सीधा करनेवालों, महाजनों, जमीदारों और दूसरी जोंकों के दिन लद गये। इसीलिए जी-जान से इस बात की कोशिश की जाती है कि सामाजिक न्याय और बराबरी और भाई-चारे की लड़ाई को कमजोर करने के लिए लेखकों-कलाकारों को उसमें से अलग किया जाय। अलग करने के भी बीस तरीके हैं। कुछ को चाँदी के जूतों से ठीक किया जाता है। कुछ के व्यक्तिवादी अहं को खुराक पहुँचाकर उनको समाज से अलग और उसके ऊपर बिठालकर, उनकी 'पूर्ण स्वतंत्रता' की घोषणा करके और फिर उन्हें प्रकृति-चिन्तन या रस-चिन्तन या अध्यात्म-चिन्तन में निमज्जित करके यानी बहुत अलंकृत ढंग से उन्हें समाज-निर्माता, मनुष्य-निर्माता, भविष्य-निर्माता के गौरवपूर्ण पद से नीचे उतारकर, उनकी जो सबसे बड़ी पूँजी है, उनका नैतिक ऐश्वर्य वह उनसे छीनकर उन्हें गली-गली थोथे कलावादी या अध्यात्म-वादी शब्दजाल या कोकशास्त्र की रचना करते घूमने के लिए छोड़ दिया जाता है। जिन लोगों पर इन दो में से एक भी जादू नहीं चलता उनके लिए पुलिस और जेल और लाठी-गोली की व्यवस्था है।

प्रेमचंद पर भी 'प्रोपागेंडा' वाली तोप बहुत चलायी गयी लेकिन उसका उनपर रत्ती भर भी असर नहीं हुआ। अब प्रेमचंद के ही शब्दों में सुनिए कि साहित्य और उसकी उपयोगिता के प्रश्न पर उनका क्या मत है :

'मेरा पक्का मत है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कला उपयोगिता के सामने घुटना टेकती है। प्रोपोगेंडा बदनाम शब्द है; लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्धक साहित्य प्रोपोगेंडे के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिए और इस तरह के प्रोपेगेंडे के लिए साहित्य से प्रभावशाली कोई साधन ब्रह्मा ने नहीं रचा। वरना उपनिषद् और बाइबिल दृष्टान्तों से न भरे होते।

(हंस, जून ३५)

सन् ३६ में प्रथम अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के अध्यक्ष पद से उन्होंने जैसे अपनी इसी बात की और विशद व्याख्या करते हुए कहा :

साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सचाइयों का दर्पन हो।...साहित्य की बहुत सी परिभाषाएँ की गयी हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है।...

नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अंतर है। नीतिशास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है। हम जीवन में जो कुछ देखते हैं या जो कुछ हम पर गुजरती है, वही अनुभव और वही चोटें कल्पना में पहुँचकर साहित्यसृजन की प्रेरणा करती हैं। कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दर्जे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक

और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौंदर्य प्रेम न जाग्रत हो—जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे वह आज हमारे लिए वेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।...पुराने जमाने में समाज की लगाम मज़हब के हाथ में थी। मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और वह भय या प्रलोभन से काम लेता था—पुण्य-पाप के मसले उसके साधन थे। अब साहित्य ने यह काम अपने जिम्मे ले लिया है और उसका साधन सौंदर्य प्रेम है। वह मनुष्य में इसी सौंदर्य प्रेम को जगाने का यत्न करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें सौंदर्य की अनुभूति न हो। साहित्य-कार में यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति-निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौंदर्यबोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है,मनुष्यता से रहित है वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। यों कहिए कि वह मानवता दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत समाज है, इसीअदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है...

दिसंबर सन् ३२ की अपनी एक टिप्पणी में प्रेमचंद ने लिखा था:

मानव हृदय आदि से ही सु और कु का रंगस्थल रहा है और साहित्य की सृष्टि ही इसलिए हुई कि संसार में जो सु या सुंदर है और इसलिए कल्याणकर है उसके प्रति मनुष्य में प्रेम उत्पन्न हो और कु या असुन्दर और इसलिए असत्य वस्तुओं से घृणा। साहित्य और कला का यही मुख्य उद्देश्य है। कु और सु का संग्राम ही साहित्य का इतिहास है। प्राचीन साहित्य धर्म- और ईश्वरद्रोहियों के प्रति घृणा और उनके अनुयायियों के प्रति श्रद्धा और भक्ति के भावों की सृष्टि करता रहा। नवीन साहित्य समाज का खून-चूसनेवालों, रँगे सियारों, हथकंडे-बाज़ों और जनता के अज्ञान से अपना स्वार्थ सिद्ध करने वालों के विरुद्ध उतने ही जोर से आवाज़ उठा रहा है, और दीनों, दलितों, अन्याय के हाथ सताये हुओं के प्रति उतने ही जोर से सहानुभूति उत्पन्न कर रहा है...

ठीक इसी बात को उन्होंने फर्वरी ३६ की अपनी 'साहित्य और मनोविज्ञान' शीर्षक एक टिप्पणी में कहा :

साहित्य अब केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है। मनोरंजन के सिवा उसका कुछ और भी उद्देश्य है। वह अब केवल विरह और मिलन के राग नहीं अलापता। वह अब जीवन की समस्याओं पर विचार करता है, उनकी आलोचना करता है और उनको सुलझाने की चेष्टा करता है। नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का कार्य-क्षेत्र एक है, केवल उनके रचना विधानमें अंतर है...

आज का साहित्यकार जीवन के प्रश्नों से भाग नहीं सकता। अगर सामाजिक समस्याओं से वह प्रभावित नहीं

होता, अगर वह हमारे सौंदर्यबोध को जगा नहीं सकता; अगर वह हममें भावों और विचारों की स्फूर्ति नहीं डाल सकता, तो वह इस ऊँचे पद के योग्य नहीं समझा जाता...

साहित्यकार मानवता का, प्रगति का, शराफत का वकील है। जो दलित है, पीड़ित हैं, जख्मी हैं, चाहे वे व्यक्ति हों या समाज उनकी हिमायत और वकालत उसका धर्म है। उसकी अदालत समाज है। इसी अदालत केसामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है...

जनवरी १९३५ में अपनी एक टिप्पणी में उन्होंने लिखा :

'...साहित्य का उद्देश्य जीवन के आदर्शको उपस्थित करना है, जिसे पढ़कर हम जीवन में कदम कदम पर आने-वाली कठिनाइयों का सामना कर सकें। अगर साहित्य से जीवन का सही रास्ता न मिले, तो ऐसे साहित्य से लाभ ही क्या। जीवन की आलोचना कीजिए चाहे चित्र खींचिए, आर्ट के लिए लिखिए चाहे ईश्वर के लिए, मनोरहस्य दिखाइए चाहे विश्व-व्यापी सत्य की तलाश कीजिए; अगर उससे हमें जीवन का अच्छा मार्ग नहीं मिलता तो उस रचना से हमारा कोई फायदा नहीं। साहित्य न चित्रण का नाम है न अच्छे शब्दों को चुनकर सजा देने का, अलंकारों से वाणी को शोभायमान बना देने का। ऊँचे और पवित्र विचार ही साहित्य की जान हैं।'

(हंस, जनवरी १९३५)

इतना ही नहीं वे और भी गहरे उतरे और सौंदर्य-वादियों को प्रणयवादियों को चुनौती देते हुए उन्होंने लिखा :

निस्संदेह काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है; पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य जिसका विषय शृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होनेवाली विरह-व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो—जिसमें दुनिया और दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गयी हो, हमारी विचार और भाव-संबंधी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है? उसी निबंध में और भी ज्यादा सफ़ाई से उन्होंने लिखा :

हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की क़द्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलंबित था और उन्हीं के सुख-दुःख आशा-निराशा प्रतियोगिता और प्रतिद्वंद्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अन्तःपुर और बंगलों की ओर उठती थी, झोंपड़े और खँडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था, कभी इनकी चर्चा करता भी था तो इनका मजाक उड़ाने के लिये। ग्रामवासी की देहाती वेश-भूषा और तौर तरीके पर हँसने के लिए, उसका शीन-काफ़ दुरुस्त न होना या मुहावरों का गलत उपयोग उसके व्यंग-विद्रूप की स्थायी सामग्री थी। वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है और उसमें भी आकांक्षाएँ हैं—यह कला कीकल्पना के बाहर की बात थी। कला नाम था और अब भी है संकुचित रूप-पूजा का, शब्द-योजना का, भाव-निबंधन का। उसके लिए

कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है—भक्ति वैराग्य अध्यात्मऔर दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौंदर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में भी सौंदर्य का अस्तित्व संभव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौंदर्य सुंदर स्त्री में है—उस बच्चों वाली गरीब रूपरहित स्त्रीमें नहीं, जो बच्चे को खेत की मेंड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है; उसने निश्चय कर लिया है कि रँगे होंठों, कपोलों और भौंहों में निस्संदेह सुंदरता का वास है—उसके उलझे हुए बालों पपड़ियाँ पड़े हुए होंठों और कुम्हलाये हुए गालों में सौंदर्य का प्रवेश कहाँ?

पर यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौंदर्य देखने वाली दृष्टि में विस्तृति आ जाय तो वह देखेगा कि रँगे होंठों और कपोलों की आड़ में अगर रूपगर्व और निष्ठुरता छिपी है तो इन मुरझाये हुए होंठों और कुम्हलाये हुए गालों के आँसुओं में त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है। हाँ उसमें नफासत नहीं, दिखावा नहीं, सुकुमारता नहीं।

हमारी कला यौवन के प्रेम में पागल है और यह नहीं जानती कि जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिका की निष्ठुरता का रोना रोने या उसके रूपगर्व और चोंचलों पर सिर धुनने में नहीं है। जवानी नाम है आदर्शवाद का, हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा की, आत्मत्याग का। उसे तो इकबाल के साथ कहना होगा :

मेरे उन्मत्त हाथों के लिए जिब्रील एक घटिया शिकार है। ऐ हिम्मते मरदाना, क्यों न अपनी कमन्द में तू खुदा को ही फाँस लाये ?

अथवा

तरंग की भाँति मेरे जीवन की तरी भी प्रवाह की ओर से बेपरवाह है। यह न सोचो कि इस समुद्र में मैं किनारा ढूँढ़ रहा हूँ।

और यह अवस्था उस समय पैदा होगी जब हमारा सौंदर्य व्यापक हो जायगा, जब सारी सृष्टि उसकी परिधि में आ जायगी। वह किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित न होगा, उसकी उड़ान के लिए केवल बाग़ की चहार-दीवारी न होगी, किन्तु वह वायुमण्डल होगा जो सारे भूमण्डल को घेरे हुए है। तब कुरुचि हमारे लिए सह्य न होगी, तब हम उसकी जड़ खोदने के लिए कमर कसकर तैयार हो जायेंगे। हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हजारों आदमी कुछ अत्याचारियों की गुलामी करें, तभी हम केवल कागज के पृष्ठों पर सृष्टि करके ही सन्तुष्ट न हो जायेंगे किन्तु उस विधान की सृष्टि करेंगे जो सौन्दर्य, सुरुचि, आत्मसम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो। इसके भी आगे बढ़कर प्रेमचन्द अमीरों के दुमछल्ले साहित्यिकों को सम्बोधित करके चेतावनी देते हैं :

यदि साहित्य ने अमीरों के याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो और उन आन्दोलनों, हलचलों और क्रान्तियों से वेखबर हो जो समाज में हो रही हैं—अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हँसता हो तो इस दुनिया में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है।...

इतने सारे उद्धरणों के बाद मैं समझता हूँ अब यह चीज़ बहुत काफी साफ हो गयी होगी कि प्रेमचन्द साफ-साफ, बिलकुल बेलाग तरीके पर जनता के साहित्य के, जनवादी साहित्य के हामी थे।

मगर इस जगह पर आप मुझसे यह सवाल कर सकते हैं कि इस चीज़ का उनके शान्ति के योद्धा होने से क्या सम्बन्ध है। इस चीज़ का बहुत ही सीधा सम्बन्ध उनके शान्ति के योद्धा होने से है क्योंकि जनवादी साहित्य का हामी होना किसी भी शान्ति के योद्धा लेखक की पहली और अनिवार्य शर्त है। यह बात तो है ही कि जब तक कोई व्यक्ति साहित्य को जनता का जीवन सँवारने, उसे सुखी और अच्छा और सच्चे अर्थों में स्वाधीन बनाने का अस्त्र नहीं समझता तब तक वह जनता की जिन्दगी के ऊपर, उसके भविष्य के ऊपर घहरा-नेवाले इस सबसे बड़े, युद्ध के संकट का कोई ठीक जवाब नहीं दे सकता, उसका मुकाबला करने में जनता को कोई सहायता नहीं दे सकता, उसे ठीक राह नहीं दिखा सकता। मगर बात इतनी ही नहीं है। आज जब कि अमरीकी-एँग्लो साम्राज्यवाद के इशारों पर नाचनेवाले बुद्धिजीवी पागलों की सी बेचैनी और वहशत के साथ यह सिद्ध करने में लगे हैं कि साहित्य को समाज से, देश से, जनता की जिन्दगी से जोड़ना गलत है, साहित्य के साथ गद्दारी है, जब कि ये अमरीकी-एँग्लो भाड़े के टट्टू संसार के तमाम मानवता-वादी, क्लासिकल साहित्य, होमर-दाँते-शेक्सपियर-गेटे-बालज़ाक-ह्यूगो-टाल्सटाय-सूर-तुलसी-रवीन्द्रनाथ-प्रेमचंदके साहित्य की परम्परा को झुठलाने की, उसे खोदकर गाड़ देने की आप्राण कोशिश कर रहे हैं—ताकि जनता के प्रति सच्चे साहित्यकारों के हाथ कमज़ोर हों और वे युद्ध का उन्माद रोकने से विरत हो जायँ और युद्ध का पागल हाथी निर्द्वन्द्व होकर विचर सके, ऐसे समय में साहित्य की जनवादी परम्परा को पूरी शक्ति और वेग

से पुनः जन-मन में प्रतिष्ठित कराने का कार्य स्वयं शान्ति के संघर्ष की एक बहुत ज़रूरी कड़ी बन जाता है।

साहित्य की इस जन-विरोधी, समाज-विरोधी व्याख्या के अलावा दो और ज़हर में बुझे हुए तीर अमरीकी साम्राज्यवाद ने संस्कृति के मोर्चे पर इस समय अपनी जंग-परस्त रणनीति के अनुसार छोड़े हुए हैं। मित्रो, अमरीकी साम्राज्यवाद सारी दुनिया को अपने कब्जे में करने के लिए, सारी दुनिया पर अपने हिटलरी गिद्ध का झण्डा फह-राने के लिए जिस प्रकार आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में अपने मारणास्त्र छोड़ रहा है उसी प्रकार, ठीक उसी प्रकार मित्रो, वह संस्कृति के क्षेत्र में भी कर रहा है। आर्थिक क्षेत्र में जिस प्रकार दुनिया को अपने शिकंजे में कसने के लिए उसकी बदनाम मार्शल योजना है, जिस प्रकार राजनीति के क्षेत्र में उसके अलग-अलग देशों में अलग-अलग बीसों हथकण्डे हैं, मार्शली देशों को अमरीकी टैंकों और हवाई जहाजों और तोपों और बन्दूकों की रफ्तनी है, दुनिया के कोने-कोने में फैले हुए उसके हजारों फौजी अड्डे हैं, ठीक उसी प्रकार साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में कॉस्मोपालिटनिज्म और एक्ज़िस्टेंशलिज्म नाम के दो जहर में बुझे हुए तीर हैं, दो ताऊन हैं, दो मौत के कीटाणु हैं। ये अमरीकी बलाएँ हैं और इनका कोई हिन्दी नाम नहीं है। लेकिन जिस तरह सारी दुनिया की शान्ति-प्रेमी जनता को उनसे दो-चार होना पड़ रहा है, उसी तरह हमको भी होना पड़ेगा और पड़ रहा है, इसलिए अच्छा हो कि हम अमरीकी हथियारखाने के इन दोनों चम-चमाते हुए सर्वनाशी, मनुष्यद्रोही हथियारों को अच्छी तरह जान लें पहचान लें।

कॉस्मोपालिटनिज्म का नाम बहुत धोखेबाज़ है मगर उसे हमारे वसुधैव कुटुंबकम् वाले आदर्श से कुछ नहीं लेना-देना। वह तो सारी

दुनिया पर स्वनामधन्य 'अमरीकी संस्कृति' और 'अमरीकन तर्ज़ जिन्दगी' का सिक्का बिठालने की एक नापाक योजना है। मित्रो, आप जानते ही हैं कि अमरीका सारी दुनिया पर अपना एक- छत्र, चक्रवर्ती साम्राज्य फैलाना चाहता है, इसीलिए वह यह नारा बुलन्द करता है कि छोटे-छोटे राष्ट्रीय राज्यों का जमाना चला गया, अब सारी दुनिया का एक राज्य होना पड़ेगा। प्रगतिशील मानवता जानती है कि एक जमाना ऐसा जरूर आवेगा जब सारी दुनिया के देश एक ही अखिल विश्व प्रजातान्त्रिक राज्य के हिस्से होंगे, लेकिन वह चीज़ तब होगी जब दुनिया से बर्बर पूँजीवाद का नामोनिशान मिट गया रहेगा, जब स दुनिया में साम्यवाद की विजय हो चुकी होगी, जब दुनिया के सभी देशों में मजदूर-किसान और जनता का राज होगा। वह समय आ जाने पर संसार के सभी देशों की जनता अपनी इच्छा से एक स्नेह-सूत्र में बँधेगी और सारी दुनिया का एक जनतन्त्र होगा। उस दिन हमारे ऋषियों का सपना सच होगा और सारी वसुधा एक कुटुम्ब के समान हो जायगी। वह संसार की सारी प्रगतिशील मानवता का सपना है जिसे सच करने ही के लिए वह इतने अर्से से खून बहाती आयी है और आज भी बहा रही है, कंसेन्ट्रेशन कैम्पों में शहादत का जाम पी रही है, लड़ाई के मैदानों में बिला दरेग अपने खून की नदियाँ बहा रही है। पर मित्रो, उस चीज़ में और साम्राज्यवादी अमरीका के सांस्कृतिक कारखाने से निकले हुए कास्मोपालिटनिज्म में कोई भी साम्य नहीं है, उनमें वही अन्तर है जो दिन में और रात में, सफेद में और काले में, रोशनी में और अँधेरे में। कास्मोपालिटनिज्म अमरीकी गुलामी का पट्टा है जो वह सारी दुनिया से लिखवाना चाहते हैं। कास्मोपालिटनिज्म वह कंट्रैक्ट है जिसके जरिये वालस्ट्रीट सारी दुनिया की आजादी को खरीद लेना चाहती है, वह साम्राजी गर्दो-गुबार का एक अन्धड़ है जिसकी

धाँधली में वह हमारा आपका वतन, हमारी-आपकी आजादी, हमारा-आपका दिलोदिमाग़, हमारी-आपकी अन्तरात्मा को कौड़ी मोल खरीद लेना चाहते हैं। ऐसा करने के लिए पहली जरूरत इस बात की है कि वह हमारे दिल से हमारी मातृभूमि का प्यार निकाल दें, हमारे दिल में अपने वतन की मुहब्बत का जो मीठा सोता है उसमें ज़हर घोल दें, हमें अपने रहन-सहन, अपनी वेश-भूषा, अपने खान-पान, अपने नृत्य और गीत, अपनी संस्कृति और वाङ्मय से जो प्यार, जो लगाव है उसे बन्दर की तरह नोचकर फेंक दें, हमारे दिल में खुद हमारी तर्जे-जिन्दगी के प्रति घृणा और उपेक्षा के जहरीले भाव भर दें और हमें एक ऐसा आदमी बना दें जिसके पैर के नीचे ज़मीन नहीं है, जिसके सर पर कोई छत नहीं हैं, जिसके दिल में भूसा भरा हुआ है, जिसके तन पर कपड़ा नहीं है, जो सर से पैर तक, भीतर और बाहर नंगा है, एकदम नंगा, जैसे लाश नंगी होती है, ऐसी लाश जिसका कोई नाम-गाम नहीं है, जिसके न कोई आगे है न पीछे, जो एक लाश की भी लाश है। कास्मोपालिटनिज्म मौत की, अमरीकी गिद्ध के झण्डे की फतेहयाबी की, जंग की इसी साजिश का नाम है। मेरे हृदय से मेरी देशभक्ति को जब तक वह खोद नहीं फेंकेंगे तब तक मैं क्यों नीग्रो लोगों का कुत्तों की मौत मारनेवाली, आदमी की जबान पर और कलम पर, आजाद रूह पर रैंकिन और मुंट की हथकड़ी-बेड़ी डालनेवाली, तिलिस्म और ऐयारी और हत्या और कोकशास्त्र के उपन्यासों और फिल्मोंवाली 'अमरीकन-तर्जे-जिन्दगी' के आगे सर खम करने लगा ?! इसलिए पहले मुझे यह पाठ पढ़ाना जरूरी है कि मैं सरासर जंगली आदमी हूँ, जंगलियों की तरह रहता हूँ, जंगलियों जैसे ही कपड़े पहनता हूँ, जंगलियों जैसा ही खाना खाता हूँ, मुझे किसी बात की तमीज नहीं है, मेरे पास अपना कुछ नहीं है जो कुछ है दूसरों का दिया

हुआ है, दूसरों के फेंके हुए टुकड़ों पर ही अब तक मैं जिया हूँ और आगे भी मुझे जीना है!

प्रेमचन्द का सारा साहित्य इस कुत्सित, दुर्गन्धपूर्ण साम्राजी दंभ के मुँह पर एक गहरा तमाचा है। उनकी एक-एक पंक्ति देश-प्रेम के रंग में डूबी हुई है, उनका एक-एक अक्षर बोल रहा है कि जिन हाथों ने उन्हें लिखा है वे कितने प्यार से अपने देश की, अपने गाँव की मिट्टी को छूते थे, कितनी ममता और कितने दुलार से अपने देश के फूलों और पत्तियों और उनके रंगों को छूते थे। प्रेमचन्द का किसान हिन्दुस्तान का ही किसान है। प्रेमचन्द की नारी हिन्दुस्तान की ही नारी है। उनका एक-एक पात्र अपने रचयिता ही की तरह वेश-भूषा में, रहन-सहन में, लबो-लहजे में, हर चीज में सोलहो आने भारतीय हैं जिसे अपने भारत की हर चीज प्यारी है। प्रेमचन्द कास्मोपालिटनिज्म के कितने कट्टर दुश्मन हैं, यह उनके इन शब्दों से साफ़ हो जाता है। 'मानसिक पराधीनता' शीर्षक अपनी एक टिप्पणी में उन्होंने सन् ३१ में लिखा :

> 'हम दैहिक पराधीनता से मुक्त होना तो चाहते हैं; पर मानसिक पराधीनता में अपने आपको स्वेच्छा से जकड़ते जा रहे हैं। किसी राष्ट्र या जाति का सबसे बहुमूल्य अंग क्या है? उसकी भाषा, उसकी सभ्यता, उसके विचार, उसका कलचर। XXXX कलचर (सभ्यता या परिष्कृति) एक व्यापक शब्द है। हमारे धार्मिक विचार, हमारी सामाजिक रूढ़ियाँ, हमारे राजनैतिक सिद्धान्त, हमारी भाषा और साहित्य, हमारा रहन-सहन, हमारे आचार-व्यवहार सब हमारे कलचर के अंग हैं; पर आज हम कितनी बेदर्दी से उसी कलचर की जड़ काट रहे हैं। पश्चिम वालों को शक्तिशाली देखकर हम इस

भ्रम में पड़ गये हैं कि हममें सिर से पाँव तक दोष ही दोष है और उनमें सिर से पाँव तक गुण ही गुण। इस अंध भक्ति में हमें उनके दोष भी गुण मालूम होते हैं और अपने गुण भी दोष। भाषा ही को ले लीजिए। आजअंग्रेजी हमारे सभ्य समाज की व्यावहारिक भाषा बनी हुई है...स्त्री पुरुष को अंग्रेजी में पत्र लिखती है, पिता पुत्र को अंग्रेजी में पत्र लिखता है। दो मित्र मिलते हैं तो अंग्रेजी में वार्तालाप करते हैं, कोई सभा होती है तो अंग्रेजी में। डायरी अंग्रेजी में लिखी जाती है। वाह! क्या भाषा है! क्या लोच है! कितनी मार्मिकता है, विचारों को व्यंजित करने की कितनी शक्ति, शब्द भंडार कितना विशाल, साहित्य कितना बहुमूल्य कितना परिष्कृत, कविता कितनी मर्मस्पर्शिणी, गद्य कितना अर्थबोधक!......हम मानते हैं कि अंग्रेजी भाषा प्रौढ़ है, हरेक प्रकार के भावों को आसानी से ज़ाहिर कर सकती है और भारतीय भाषाओं में अभी वह बात नहीं आयी लेकिन जब वही लोग जिन पर भाषा के निर्माण और विकास का दायित्व है, दूसरी भाषा के उपासक हो जावें तो उनकी अपनी भाषा का भविष्य भी तो शून्य हो जाता है। फिर क्या विदेशी साहित्य की नींव पर आप भारतीय राष्ट्रीयता की दीवार खड़ी करेंगे? यह हिमाकत है। आज हमारा पठित समाज साधारण जनता से पृथक् हो गया है। उसका रहन-सहन, उसकी बोल-चाल, उसकी वेश-भूषा, सभी उसे साधारण समाज से अलग कर रहे हैं। शायद वह अपने दिल में फूला नहीं समाता कि हम कितने विशिष्ट हैं। शायद वह जनता को नीच और गँवार समझता है; लेकिन वह खुद जनता की नजरों से गिर

गया है। जनता उससे प्रभावित नहीं होती, उसे 'किरंटा' या 'बिगड़ैल' या 'साहब बहादुर' कहकर उसका बहिष्कार करती है। XXXX

भाषा को छोड़िए, वेश-भूषा पर आइए। आप उन साहब बहादुर को देख रहे हैं जो हैटकोट लगाये, गरूर से इधर-उधर देखते चले जा रहे हैं। यह हमारे हिन्दुस्तानी यूरोपियन हैं। रास्ते से हट जाओ, साहब बहादुर आते हैं! साहब को सलाम करो, आप पूरे साहबबहादुर हैं! मुझे तो आप सिर से पाँव तक गुलाम नजर आते हैं जो अपनी गुलामी का उसी बेशर्मी से प्रदर्शन कर रहे हैं जैसे कोई वेश्या अपने हाव-भाव का। XXXX

सारा लेख ऐसे ही पवित्र क्रोध के आवेश में लिखा गया है (जिसका मतलब यह नहीं कि तर्क आवेश में खो गया है) और हमारी मानसिक गुलामी की जड़ पर कुल्हाड़े से वार करता है। इससे सहज ही पता चल जाता है कि कास्मोपालिटनिज्म नाम के नवीनतम अमरीकी आविष्कार के बारे में प्रेमचन्द के क्या विचार हो सकते थे। प्रेमचंद अब भले हमारे बीच न हों लेकिन उनका साहित्य तो है, वह जंग-परस्त अमरीकी साम्राज्यवाद के संसार-आधिपत्य की ज़मीन तैयार करनेवाले कास्मोपालिटनिज्म के आक्रमण का मुकाबला करने में कितना सहायक है, आप खुद ही सोच देखिए।

अब आइए जरा इस दूसरे ताऊन को टटोल कर देखें जिसे एक्ज़िस्टेंशलिज्म कहते हैं, जो मरते हुए पूँजी-वाद की रगों का आखिरी टूटना है, जो मरते हुए पूँजीवाद द्वारा अपने वर्ग-शत्रु साम्यवाद को घाव लगाने की आखिरी कोशिश है, जो इस मरते हुए पूँजीवाद का, युद्ध और फाशिज्म के रास्ते चलकर अपने आपको बचाने का

आखिरी सांस्कृतिक अवलंब है, जो अमरीकी साम्राज्यवाद का एक निरा घिनावना हथियार है। यह हथियार कहाँ पर चोट करता है? यह हथियार चोट करता है मानवता के भविष्य पर, भविष्य में मनुष्य के विश्वास पर, उसकी रचनात्मक आशा और संकल्प पर, उसके मर्मस्थल पर, ठीक उस जगह पर जहाँ उम्मीदें बसेरा लेती हैं, जहाँ नयी, बेहतर, सुखी दुनिया का स्वप्न मनुष्य के हृदय को गरमाता है, जहाँ कर्मशक्ति का जन्म होता है, जहाँ इच्छाएँ और उमंगें संकल्प बनती हैं और संकल्प कर्म बनता है। यह उस कुँए में ही जहर घोल देता है जहाँ का शीतल, मीठा पानी हम पीते हैं। ज्याँ पाल सार्त्र, केसलर, काफ्का और एप ऐंड एसेन्स के लेखक आल्डस हक्सले के कलम से निकली हुई इन मौत की टिकियों का अलग अलग देशों में अलग अलग नाम हो सकता है, उनमें परस्पर ज़रा-बहुत अंतर भी हो सकता है, लेकिन उन सबमें एक चीज़ समान है और वह चीज है प्रगतिशील मनुष्य के भविष्य में अविश्वास, कुछ ऐसा भाव कि यह दुनिया अच्छी-बुरी जैसी भी है वैसी ही रहेगी, उसे सुधारा नहीं जा सकता क्योंकि आदमी जो उसे सुधार सकता था खुद एक कामी, कायर, लालची, जड़, बर्बर पशु है, नयी दुनिया को बनाने के लिए जिस आदर्शवाद, त्याग और उत्सर्ग की जरूरत है, वह सब उसके पास कुछ भी नहीं है, उससे दूर का भी वास्ता उसे नहीं है। इसलिए जो कुछ है ठीक है, उसे बदलने का ख्वाब भी मत देखो क्योंकि इस ख्वाब से सिवाय थकन के और कुछ हासिल न होगा। दुनिया में अगर अन्याय, अत्याचार, शोषण, हिंसा, रक्तपात, बलात्कार आदि है तो वह इसीलिए कि मनुष्य इसी सब का अधिकारी है, इससे बेहतर किसी चीज़ के वह योग्य ही नहीं। इसलिए जो कुछ है अच्छा ही है, इसे अनिवार्य नियति जानकर, बगैर कान-पूँछ

हिलाये सहे जाओ।... इस तरह एक्जिस्टेंशलिज्म समाज की दुरवस्था और मनुष्य के पतन के आर्थिक सामाजिक कारणों पर पर्दा डालता है, असल मुजरिम को अपने गरेबान में छुपा लेता है और लोगों को एक ग़लीज झूठ की भूलभुलैया में डाल देता है ताकि वह चिरकाल तक उसी में चक्कर खाता रहे और असल कारण कभी उसकी पकड़ में न आवे। मरणासन्न पूँजीवाद के इसी वर्गस्वार्थ की सिद्धि के लिये एक्ज़िस्टेंशलिज्म मनुष्य की दुर्बलतम, हीनतम प्रवृत्तियों को चित्रित करता है, उन्हीं को उभारता है और उच्चतर प्रवृत्तियों की खिल्ली उड़ाता है। और यह काम वह करता है इस ठोस धरती के यथार्थवाद के नाम पर। मगर यह यथार्थवाद बनमानुस का यथार्थवाद है, मलाहारी सुअर का यथार्थवाद है, उस अमरीकी-एँग्लो साम्राज्यवाद का यथार्थवादहै जिसे इंसान की इंसानियत से कोई ग़रज़ नहीं है, जिसके पास इंसान की इंसानियत का कोई इस्तेमाल नहीं है, जिसकी जंग की साज़िश की कामयाबी के लिए जरूरी है कि इंसान बनमानुस और सुअर की सतह पर पड़ा रहे। इस मलाहारी यथार्थवाद, और प्रगतिशील यथार्थवाद में कोई साम्य नहीं है। प्रगतिशील या गोर्की के शब्दों में 'रोमांटिक' यथार्थवाद के पैर जमीन पर रहते हैं और सिर आसमान को छूता है और निगाहें उस दूर क्षितिज को देखा करती हैं जहाँ से इंसान की खुशी का सूरज निकल रहा है, जहाँ से स्वस्थ स्त्रियों-पुरुषों के हँसते हुए गोल गोल चेहरे दिखायी दे रहे हैं, जहाँ से अपनी खुशी में मगन बच्चों की किलकारियाँ सुनायी पड़ रही हैं, जहाँ कोई चीज़ कुम्हलायी हुई नहीं है और असंख्य रंगों के फूल जगमगा रहे हैं।

हिन्दी साहित्य में भी इलाचंद्र जोशी जैसे कुछ मलाहारी यथार्थवादी हैं जो एक्ज़िस्टेंशलिस्टों से या ऐसे सभी लेखकों के प्रेरणाकेन्द्र

वालस्ट्रीट या उनके हिन्दुस्तानी सहयोगी बिड़ला डालमिया से प्रेरणा लेकर* काफी भोंदे ढंग से सार्त्र और केसलर जैसा ही परनाले का कीचड़ बहा रहे हैं और आदमी को उस कीचड़ में किलबिलाते हुए कीड़े की तरह पेश कर रहे हैं।

प्रेमचंद का समूचा साहित्य इस नैतिक गिरावट और उसकी वकालत करनेवालों के मुँह पर एक करारा तमाचा है। इसलिए यह चीज़ आसानी से समझी जा सकती है कि क्यों इलाचंद्र जोशी जैसे लोग मौके-बे-मौके प्रेमचंद के खिलाफ जहर उगला करते हैं। साहित्य की इस नैतिक गिरावट के बारे में खुद प्रेमचंद ने अपने कुछ निबन्धों में लिखा है। नवस्थापित भारतीय साहित्य परिषद् के उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए उन्होंने मई, ३६ की एक टिप्पणी में लिखा :

'एक दल साहित्यकारों का ऐसा भी है जो साहित्य को श्लील-अश्लील के बंधन से मुक्त समझता है। वह कालिदास और वाल्मीकि की रचनाओं से अश्लील शृंगार की नजीर देकर अश्लीलता की सफाई देता है। अगर कालिदास या वाल्मीकि या और किसी नये या पुराने साहित्यकार ने अश्लील शृंगार रचा है तो उसने सुरुचि और सौंदर्य-भावना की हत्या की है। जो रचना हमें कुरुचि की ओर ले जाये, कामुकता को प्रोत्साहन दे, समाज में गंदगी फैलाये, वह त्याज्य है चाहे किसी की भी हो। साहित्य का काम समाज और व्यक्ति को ऊँचा उठाना है, उसे नीचे गिराना नहीं।"

---

*स्मरण रखना चाहिए कि 'संगम' में बिड़ला की चाकरी करने के बाद जोशी जी एक हज़ार कलदारों पर आजकल 'धर्मयुग' में डालमिया की चाकरी कर रहे हैं!

फिर :

जो आँख केवल नग्नचित्र ही में सौंदर्य देखतीहै, और जो रुचि केवल रति-वर्णन या नग्नविलास में ही कवित्व का सबसे ऊँचा विकास देखती है, उसके स्वस्थ होने में हमें संदेह है। यह 'सुंदर' का आशय न समझने की बरकत है। जो लोग दुनिया को अपनी मुट्ठी में बंद किये हुए हैं, उन्हें दिमागी ऐयाशी का अधिकार हो सकता है। पर जहाँ फ़ाक़ा है और नग्नता है और पराधीनता है, वहाँ का साहित्य अगर नंगी कामुकता और निर्लज्ज रीति-वर्णन पर मुग्ध है तो उसका यही आशय है कि अभी उसका प्रायश्चित पूरा नहीं हुआ और शायद दो चार सदियों तक उसे गुलामी में और बसर करनी पड़ेगी।

इसी टिप्पणी में आगे चलकर वे लिखते हैं :

जो साहित्य जीवन के उच्च आदर्शों का विरोधी हो, सुरुचि को बिगाड़ता हो अथवा सांप्रदायिक सद्भावना में बाधा डालता हो, ऐसे साहित्य को यह परिषद् हरगिज़ प्रोत्साहित न करेगा।

इसी तसवीर का दूसरा पहलू है ;

लोक जीवन के जीवित और प्रत्यक्ष सवालों को हल करनेवाले साहित्य के निर्माण को यह परिषद् प्रोत्साहन देगा।

'कुछ विचार' में एक जगह पर वे लिखते हैं :

हममें जो कमजोरियाँ हैं, वह मर्ज की तरह हम से चिमटी हुई हैं। जैसे शारीरिक स्वास्थ्य एक प्राकृतिक बात है और रोग उसका उल्टा, उसी तरह नैतिक और मानसिक स्वास्थ्य

भी प्राकृतिक बात है और हम मानसिक तथा नैतिक गिरावट से उसी तरह संतुष्ट नहीं रहते जैसे कोई रोगी अपने रोग से संतुष्ट नहीं रहता। जैसे वह सदा किसी चिकित्सक की तलाश में रहता है उसी तरह हम भी इस फिक्र में रहते हैं कि किसी तरह अपनी कमजोरियों को परे फेंककर अधिक अच्छे मनुष्य बनें।

इसी निबंध में आगे चलकर वे लिखते हैं :

हत्या कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौंदर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह हममें वफादारी, सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और ममता के भावों (जिनसे जंगपरस्तों के चाकर एक्ज़िस्टेंशलिस्टों की दुश्मनी है!) को पुष्ट करता है। जहाँ ये भाव हैं वहीं दृढ़ता है और जीवन है; जहाँ इनका अभाव है वहीं फूट विरोध स्वार्थपरता है, द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है। यह बिलगाव, विरोध, प्रकृति-विरुद्ध (प्रकृति के अंदर ही समाज भी शामिल है—अ.रा.) जीवन के लक्षण हैं जैसे रोग प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार का चिह्न है। जब हमारी आत्मा प्रकृति के मुक्त वायुमण्डल में पालित-पोषित होती है, तो नीचता-दुष्टता के कीड़े अपने आप हवा और रोशनी से मर जाते हैं।

मार्च सन् ३५ की अपनी एक टिप्पणी में उन्होंने लिखा :

...इसमें विद्वानों को मतभेद हो सकता है कि आदमी का पूर्वपुरुष बन्दर है या भालू; लेकिन इसमें तो सभी सहमत होंगे कि आदमी में दैविकता भी है और पाशविकता भी। अगर आदमी एक वक्त में किसी की हत्या कर सकता है तो दूसरे अवसर पर किसी की रक्षा में अपने प्राणों का होम भी कर सकता है और आदि से साहित्य और काव्य और

कलाओं का यही ध्येय रहा है कि आदमी में जो पशुत्व है उसका दमन करके उसमें जो देवत्व है उसको जगाया जाय, उसमें जो निम्न भावनाएँ हैं, उनको दबाकर या मिटाकर कोमल और सुंदर वृत्तियों को सचेत किया जाय। साहित्य और काव्य में भी ऐसे समय आये हैं और आते रहते हैं जब सुंदर का पक्ष निर्बल हो जाता है और वह असुंदर, वीभत्सता और दुर्वासना का राग अलापने लगता है; लेकिन जब ऐसा समय आता है तो हम उसे decadence, पतन का युग कहते हैं। इसी उद्देश्य से साहित्य और कला में केवल मानव जीवन की नकल करने को बहुत ऊँचा स्थान नहीं दिया जाता और आदर्शों की रचना करनी पड़ती है। आदर्शवाद का ध्येय यही है कि वह सुन्दर और पवित्र की रचना करके मनुष्य में जो कोमल और ऊँची भावनाएँ हैं, उन्हें पुष्ट करे और जीवन के संस्कारों से मन और हृदय में जो गर्द और मैल जम रहा हो उसे साफ कर दे। किसी साहित्य की महत्ता की जाँच यही है कि उसमें आदर्श चरित्रों की सृष्टि हो। हम सब निर्बल जीव हैं, छोटे-छोटे प्रलोभनों में पड़कर हम विचलित हो जाते हैं, छोटे छोटे संकटों के सामने सिर झुका देते हैं। और जब हमें अपने साहित्य में ऐसे चरित्र मिल जाते हैं जो प्रलोभनों को पैरों तले रौंदते और कठिनाइयों को धकियाते हुए निकल जाते हैं तो हमें उनसे प्रेम हो जाता है, हममें साहस का जागरण होता है और हमें अपने जीवन का मार्ग मिल जाता है।

(हंस : मार्च १९३५)

इसके बाद अब कुछ कहने की जरूरत नहीं रह जाती कि

एक्ज़िस्टेंशलिज्म नाम की इस नयी साहित्यिक महामारी का जो अमरीकी फौजों के टैंकों की तरह आगे आगे आकर अपना तबाही का काम करती है ताकि पीछे आनेवाली फौजों का काम आसान हो जाय, जवाब जन-वादी कलाकार प्रेमचंद के पास मौजूद है और वह जवाब ऐसा है जो जाकर हथौड़े की तरह ठीक उसके सिर पर बैठता है। लड़ाई में एक क्रिया होती है जिसे Softening कहते हैं। Softening का मतलब होता है पीट पीटकर हलुआ बना देना। एक्ज़िस्टेंशलिज्म कला और संस्कृति के अस्त्रों से जनता के मन के आशा और विश्वास और साहस को पीट-पीटकर हलुआ बना देता है ताकि जंग-परस्तों का प्रतिरोध करने की शक्ति ही उनमें न रहे। प्रेमचंद का सारा रचनात्मक साहित्य और सारा चिन्तनात्मक साहित्य प्रहरी के समान इस घातक दुश्मन से जनता की रक्षा कर रहा है।

अब हम हिन्दू-मुसलिम एकता के सवाल पर प्रेमचंद के विचारों को देखेंगे। हिन्दू-मुसलिम एकता का सवाल शांति के सवाल से सीधा सम्बन्ध रखता है क्योंकि उसका सम्बन्ध हमारे देश पर साम्राज्यवादियों के प्रभुत्व से है। प्रेमचंद ने सन् ३० में 'हिन्दू-मुसलिम बाँट बखरे का प्रश्न' शीर्षक से अपनी एक टिप्पणी में लिखा था:

> भारतीय एकता के विरोधी यह कहते कभी नहीं थकते कि जब तक हिन्दुओं और मुसलमानों में हिस्से का समझौता न हो जाय, मुसलमान इस संग्राम में शामिल नहीं हो सकते। इस कथन में कितनी सचाई है इसे मुसलिम जनता अब समझने लगी है। वह यह है कि जब तक एक तीसरी शक्ति इन दोनों जातियों के वैमनस्य से फायदा उठानेवाली रहेगी, एकता का सूर्य कभी उदय न होगा।

विस्तार में जाने की जरूरत नहीं है। हमें पता है कि इस तीसरी

शक्ति ने हमारे वैमनस्य का पूरा-पूरा फायदा उठाया, हमको जानवरों की तरह आपस में लड़ाया, हमें कभी एक नहीं होने दिया, हमारे खून की नदियाँ बहायीं, एक रोज के लिए देश में शान्ति नहीं कायम होने दी और इसी तरह हमें गुलाम बनाये रक्खा। धीरे-धीरे जबी एक रोज ऐसा आया कि देश की हिन्दू-मुसलिम जनता अपने पूँजीवादी और सामन्ती नेताओं के असर से अपने आपको कुछ-कुछ मुक्त करके जहाजियों की बग़ावत के समय अंग्रेजों के विरुद्ध आजादी की लड़ाई में एक होने लगी तो साम्राज्यवाद ने हवा का रुख पहचान कर देश के बँटवारे की शैतानी साज़िश को पेश किया। देश का बँटवारा हुआ और खून की ऐसी नदियाँ बहीं, इन्सानों ने वह-वह वहशियाना हरकतें कीं जिनका संसार के पाँच हजार साल के इतिहास में कोई जोड़ नहीं है। आखिर-कार 'दोनों जातियों के वैमनस्य से फायदा उठानेवाली तीसरी शक्ति' बनी रही, एकता का सूर्य उदय नहीं हुआ और स्वराज्य नहीं मिला, मिली ठीक वह चीज जिससे प्रेमचन्द को दिली नफरत थी, जैसा कि हम देख आयेहैं।...और जिस दिन से धर्म के आधार पर देश का बँटवारा हुआ और दो राज्य सत्ताएँ बनीं, उस दिन से हिन्दू-मुसलिम समस्या जो अब तक एक देश की अंदरूनी समस्या थी एक अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की, विश्वशान्ति की समस्या हो गयी क्योंकि ये दोनों राज्य अब भी उसी तीसरी शक्ति, साम्राज्यवाद, के इशारे पर नाचते हैं और वह तीसरी शक्ति जंगबाज़ है। जंग के लिए हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का ऐसा महत्व है जैसा और किसी देश का नहीं। बँटवारे की अनेक समस्याओं को लेकर जंगबाज़ साम्राज्यवादी कभी भी अपना उल्लू सीधा करने के लिए हिन्दुस्तान और पाकिस्तान को आपस में भिड़ा दे सकते हैं और दुनिया की शान्ति खतरे में पड़ सकती है। काश्मीर का मसला एक भयानक सांघातिक समस्या के रूप में हमारी

आँखों के सामने है। ऐसी स्थिति में हमारे देश के अन्दर और हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बीच हिन्दू मुसलिम शान्ति की समस्या विश्वशान्ति की एक समस्या बन गयी है।

प्रेमचन्द साम्प्रदायिकता के जानी दुश्मन, सच्चे देशभक्त थे, मुसलमानों के खिलाफ रत्ती भर वैमनस्य उनके दिल में नहीं था। हिन्दुओं-मुसलमानों में एकता न होने का कारण तीसरी शक्ति की उपस्थिति तो थी ही, मगर इसके साथ-साथ प्रेमचन्द की तेज़ आँखों से यह बात भी नहीं छिपी थी कि उसका एक बड़ा कारण कांग्रेस-मैनों के मन के अन्तराल में बैठी हुई हिन्दू और मुसलिम साम्प्रदायिकता भी थी, जैसा कि अप्रैल ३१ के इस उद्धरण से स्पष्ट है :

> कांग्रेस में दुर्भाग्यवश हिन्दू और मुसलिम मनोवृत्तियों का अभी तक काफी ज़ोर है। हिन्दू-सभा के सैकड़ों ही उपासक उस आन्दोलन को इस समय कमजोर देखकर कांग्रेस में आ मिले हैं और वहाँ भी वही जहरीला असर फैला रहे हैं। अगर कांग्रेस में इस मनोवृत्ति को प्रोत्साहन न मिलता तो पंथगत द्वेष कभी इतना भीषण रूप न धारण करता। हममें से अधिकांश लोग अब भी कहने को तो कांग्रेस-मैन हैं, इंकलाब की चीख मारते हैं, झण्डे का गीत गला फाड़-फाड़कर गाते हैं, लेकिन अंदर देखिये तो राष्ट्रीयता छू नहीं गयी। कानपुर में अगर हिन्दुओं ने अधिक मुसलमानों को मारा या मुसलमानों ने हिन्दुओं का बध करने में बाजी मारी तो वे सन्तुष्ट हैं। धर्म के संकीर्ण क्षेत्र के बाहर उनकी निगाह ही नहीं पहुँचती, वह या तो हिन्दू हैं या मुसलमान, हिन्दुस्तानीपन का भाव उनसे कोसों दूर है। वे लोग मौके की ताक में हैं, ज्योंही जनता को धर्म की

ओर झुकते देखेंगे तुरत काग्रेस से निकल भागेंगे, क्योकि उन्हें तो लीडरी चाहिए, चाहे काग्रेस मे मिले या मुसलिम लीग मे...जब तक इस दूषित मनोवृत्ति का हम अन्त न कर देंगे, जब तक अपना हिन्दू या मुसलमान होना भूल न जायेंगे, जब तक हम अन्य धर्मावलम्बियो के साथ उतना ही प्रेम न करेंगे जितना निज धर्मवालो के साथ करते हैं, साराश यह कि जब तक हम पथजनित संकीर्णता से मुक्त न हो जायेंगे, इस बेडी को तोड़ कर फेंक न देंगे, देश का उद्धार होना असम्भव है। कोई नहीं कहता कि आप नमाज न पढिये ..पांचो वक्त नमाज पढिये, तीसो रोजे रखिए, देवताओ की जितनी पूजा चाहे कीजिए, जितनी सन्ध्या चाहे कीजिये, हवन की सुगन्धि से देश को सुगन्धित कर दीजिए, मगर धर्म को राजनीति से गड़बड़ न कीजिए।

हिन्दुओ-मुसलमानो के परस्पर वैमनस्य को दूर करना, उन्हे एकता की डोर मे बाँधना प्रेमचंद के जीवन का बहुत बड़ा लक्ष्य था। इसी लक्ष्य को सामने रखकर उन्होने बहुत कुछ लिखा है। उनकी इस बात पर गौर कीजिए, उससे कितने खुले दिमाग़ का परिचय मिलता है। दूसरे किसी राष्ट्रीय साहित्यकार या राजनीतिक नेता के यहाँ यह चीज़ आपको मिल नहीं सकती :

दिलो में गुबार भरा हुआ है, फिर मेल कैसे हो। मैली चीज़ पर कोई रंग नहीं चढ सकता, यहाँ तक कि जब तक दीवार साफ़ न हो, उस पर सीमेंट का पलस्तर भी नहीं ठहरता। हम गलत इतिहास पढ-पढ़कर, एक दूसरे के प्रति तरह-तरह की गलतफहमियाँ दिल में भरे हुए हैं, और उन्हे किसी तरह दिलसे नहीं निकालना चाहते, मानो उन्हीं पर हमारे

जीवन का आधार हो। मुसलमानों को अगर यह शिकायत है कि हिन्दू हमसे परहेज़ करते हैं, हमें अछूत समझते हैं, हमारे हाथ का पानी तक नहीं पीना चाहते, तो हिन्दुओं को यह शिकायत है कि मुसलमानों ने हमारे मंदिर तोड़े, हमारे तीर्थस्थानों को लूटा, हमारे राजाओं की लड़कियाँ अपने महल में डालीं और जाने क्या-क्या उपद्रव किये। हिन्दू मुसलमानों के आचार और धर्म की हँसी उड़ाते हैं, मुसलमान हिन्दुओं के आचार और धर्म की। विजयी जाति पराजितों पर जो सबसे कठोर आघात करती है वह है उनके इतिहास का विषैला बना देना। प्राचीन हमारे भविष्य का पथदर्शक हुआ करता है। प्राचीन को दूषित करके, उसमें द्वेष और भेद और कीना भरकर भविष्य को भुलाया जा सकता है। वही भारत में हो रहा है। यह बात हमारे अन्दर ठूँस दी गयी है कि हिन्दू और मुसलमान हमेशा से दो विरोधी दलों में विभाजित रहे हैं, हालाँकि ऐसा कहना सत्य का गला घोंटना है। यह बिलकुल गलत है कि इसलाम तलवार के बल से फैला। तलवार के बल से कोई धर्म नहीं फैलता और कुछ दिनों के लिए फैल भी जाय तो चिरजीवी नहीं हो सकता। भारत में इसलाम के फैलने का कारण ऊँची जातिवाले हिन्दुओं का नीची जातियों पर अत्याचार था।

[नवम्बर १९३१]

इससे जाहिर है कि प्रेमचन्द साम्प्रदायिकता के कट्टर दुश्मन थे। लेकिन इस प्रश्न पर उनके विचार की जो सबसे बड़ी कमजोरी मालूम पड़ती है वह यह है कि उन्होंने भी राष्ट्रीय आन्दोलन की पूँजीवादी नेताशाही की तरह साम्राज्यवादी भेदनीति के आगे अपनी असफ-

लता, अपनी व्यर्थता को मान लिया। 'दोनों जातियों के वैमनस्य से फायदा उठानेवाली तीसरी शक्ति' का रोना रोने से तो काम नहीं चलेगा। उस तीसरी शक्ति को हटाने ही के लिए तो एकता चाहिए। इसलिए अगर उस तीसरी शक्ति के खिलाफ हिन्दू-मुसलिम एकता कायम होनी थी और होनी है तो वह तीसरी शक्ति—साम्राज्यवाद और उसके हिन्दुस्तानी संगी-सँघातियों—की भेद-नीति, उसके हर दाँव-पेंच के बावजूद ही हो सकती थी और होगी और उसे कायम करने की जिम्मेदारी देशवालों पर ही थी और है। वे किसी तीसरी शक्ति के सिर इलजाम थोपकर छुट्टी नहीं ले सकते क्योंकि यहाँ पर सवाल किसी के सिर इलजाम थोपने का नहीं देश को आजाद करने का है। 'क्या मुसलमान कांग्रेस के साथ नहीं हैं?' शीर्षक अपनी टिप्पणी में उन्होंने मँझोले ढंग के कांग्रेस नेता या साधारण पढ़े-लिखे कांग्रेसमैन की तरह काफी चलते-फिरते ढंग से इस सवाल को यह कहकर टाल दिया है कि कुछ थोड़े से खाँ बहादुर कांग्रेस के साथ भले न हों (उसी तरह जैसे रायबहादुर भी नहीं हैं) मगर मुसलिम जनता तो कांग्रेस के साथ है। अगर उन्होंने ऐसा न करके गहराई से इस हकीकत को स्वीकार करके उस पर विचार किया होता कि क्यों विशाल मुसलिम जनता कांग्रेस की पुकार पर नहीं दौड़ती तब धीरे-धीरे इस प्रकृत सत्य का आर्थिक आधार, वर्ग-आधार, उन्हें मिल जाता और तब ऊपर के उद्धरणों में हमें जो कुछ खाली-खाली-सा लगता है वह भर उठता और तब यह चीज़ साफ हो जाती कि शोषक वर्गों से आनेवाले या उनके गीत गानेवाले हिन्दू और मुसलिम लीडरों की लीडरीप्रियता उनके दृष्टिकोण से साम्प्रदायिकता का न जाना और एकता के मार्ग में रुकावट बनना, इन सबका असल रहस्य क्या है, इनका मूल स्रोत किस जगह पर है। एक जगह पर प्रेमचन्द ने यह जरूर लिखा है कि हिन्दू-मुसलिम झगड़ा

मेहनतकश जनता का झगड़ा नहीं, सम्पन्न वर्गों और पढ़े-लिखे, सफेद-पोश, नौकरी-पेशा या वकालत-पेशा लोगों का पद और प्रभुता का झगड़ा है; मगर इस विचार को उन्होंने और आगे नहीं बढ़ाया। वर्ना यह राज़ खुलते देर न लगती कि ये उच्च वर्ग स्वयं हिन्दू-मुसलिम जनता की एकता के प्रत्यक्ष या परोक्ष दुश्मन थे और यह कि एकता केवल गरीब मेहनतकशों के नेतृत्व में, राजी और रोटी की, आजादी और जनवाद की मिली-जुली लड़ाई के जरिये हासिल हो सकती है। दूसरा कोई रास्ता नहीं है। इस समस्या पर प्रेमचन्द के दृष्टिकोण में यही एक कमी है मगर इस कमी से इस बात पर तनिक भी आँच नहीं आती कि प्रेमचन्द साम्प्रदायिकता के जानी दुश्मन, स्वस्थतम देशभक्त थे, हिन्दू-मुसलिम एकता की स्थापना उनके जीवन का व्रत था (हिन्दी और उर्दू के समानरूप से आदृत साहित्यिक होने के नाते वे इस कार्य के लिए उपयुक्त भी सबसे अधिक थे) कांग्रेसजनों में छिपी बैठी हिन्दू साम्प्रदायिकता भी उनकी आँखों से छिपी नहीं थी और यह बात भी उनके नजदीक दिन की रौशनी की तरह साफ़ थी कि समाज का उच्चवर्ग ही एकता की राह में बाधक है वर्ना गरीब, दबी-पिसी जनता तो एक हो जाये।

इस प्रकार यह बात बिलकुल सिद्ध है कि इस रूप में भी प्रेमचन्द शान्ति के योद्धा थे।

शान्ति के सफल योद्धा के लिए यह भी एक प्रकार से आवश्यक ही है कि वह युद्ध के आर्थिक-सामाजिक कारण को जाने, पूँजीवादी राष्ट्रीयता की असलियत को समझे, पूँजीवाद-साम्राज्यवाद को युद्ध के जनक के रूप में देखे, सोवियत रूस और नये चीन को आजादी और शान्ति के गढ़ के रूप में देखे और हजार अपप्रचार के बीच भी अपने मन पर उनकी सुनहरी जगमगाती हुई तसवीर को धूमिल न

पड़ने दे, साम्यवाद को सौहार्द और सद्भावना की दृष्टि से देखे, नागरिक स्वाधीनता के लिए लड़े। इनमें से जितनी ही ज्यादा बातें उसमें होंगी, उतना ही ज्यादा अच्छा, वैज्ञानिक और उत्साही शान्ति का योद्धा वह होगा और मैं कहना चाहता हूँ कि प्रेमचन्द में ये सभी बातें थीं। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों तक पहुँचते-पहुँचते इन सभी प्रश्नों पर उनकी अपनी दृढ़ मान्यताएँ हो गयी थीं। उनके बारे में बहुत ज्यादा उन्होंने अलबत्ता नहीं लिखा, उनका विषय भो वह नहीं था, लेकिन इतना क़ाफी उन्होंने जरूर लिखा है जिससे उनके दिलो-दिमाग़ के रुझान का साफ-साफ पता चलता है और अगर कुछ लोग ऐसे हों जो प्रेमचन्द में से प्रेमचंद-पन को निकालकर यानी उनकी नैतिक हत्या करके उन्हें जनता के सामने ले जाने की सोचते हों तो उन्हें अब आनेवाले उद्धरण जलते हुए अंगारों के समान लगेंगे जिनका स्पर्श लगते ही वे छनछनाकर भागेंगे। मगर प्रेमचंद की प्रेमी जो विशाल जनता है वह तो उनके जनप्रेम, जनवाद की ही प्रेमी है और उसे इन उद्धरणों से गहरा आत्मिक सन्तोष, सच्चा सुख मिलेगा।

पहले नागरिक स्वाधीनता की बात लीजिए।

वर्तमान महाजनी समाज में किस प्रकार नागरिक स्वाधीनता की हत्या की जाती है इसका उन्हें खूब पता था क्योंकि खरी बात कहने के कारण स्वयं उन्हें सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा था। 'सोज़े वतन' उनकी एकदम आरम्भिक कृतियों में से है। तब वह उर्दू ही में लिखते थे। उस पुस्तक को सरकार ने जब्त किया था और उसकी तमाम प्रतियाँ वह उठा ले गयी थी। तभी उन्हें चेतावनी भी मिली थी और उस चेतावनी के जवाब में ही 'धनपतराय' या 'नवाबराय' (जिस नाम से उस समय वह लिखते थे) प्रेमचंद बने थे। प्रेमचंद सरकारी नौकर धनपतराय का छद्म नाम था जो उन्होंने नागरिक स्वाधीनता

की हत्या के काले दौर में (जो अब और भी अपने बढ़े-चढ़े रूप में चल रहा है) अपने विचार-स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिए अपनाया था और फिर वह नाम उनका इतना अपना बना कि अब दुनिया उनको उसी नाम से जानती है। 'सोज़े वतन' के बहुत बाद 'समर-यात्रा' नाम का उनका कहानी संग्रह जब्त किया गया जिसमें सन् ३२ के स्वतंत्रता आन्दोलन की कहानियाँ हैं। उनके सम्पादकत्व में निकलनेवाले 'हंस' और 'जागरण' से जमानतें माँगी गयीं। 'जाके पैर न फटी बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई' वाली बात उन पर नहीं लागू होती। उनके पैर में भी बिवाई फटी थी और नागरिक स्वाधीनता की हत्या की पीर उनके लिए पराई पीर नहीं अपनी पीर थी। इस सम्बन्ध में उनका एक ही कथन काफी होना चाहिए :

> 'जहाँ शासन-संगठन के विरोध में जबान खोलना बड़े से बड़ा अपराध है जिसकी सजा मौत है, वहाँ शान्ति कहाँ। विचारों को शक्ति से कुचलकर बहुत दिनों तक शान्ति की रक्षा नहीं की जा सकती।'
>
> ('नवयुग' शीर्षक लेख, 'हंस' ३५)

नागरिक स्वाधीनता और शांति का जो अंगांगि संबंध है, उसकी ज्यादा स्पष्ट व्याख्या नहीं हो सकती। इस कथन को जब आप आज के हिन्दुस्तान और आज की दुनिया पर लागू करते हैं तब इसकी सचाई का पता चलता है।

पूँजीवादी राष्ट्रवाद जिसकी इतनी दुहाई दी जाती है उसके संबंध में देखिए प्रेमचंद क्या कहते हैं :

> इसी राष्ट्रवाद ने साम्राज्यवाद, व्यवसायवाद आदि को जन्म देकर संसार में तहलका मचा रखा है। व्यापारिक प्रभुत्व के लिए महान युद्ध होते हैं, कपट नीति चली जाती है,

एक दूसरे की आँखों में धूल झोंकी जाती है, निर्बल राष्ट्रों को उभरने नहीं दिया जाता।

(उपरोक्त)

चीनी क्रांति और पुराने लीग आफ नेशन्स की नपुंसकता के संबंध में देखिए उन्होंने क्या कहा है:

राष्ट्रसंघ चींचीं करता ही रह गया और जापान ने चीन के उत्तरीय भाग पर अपना सिक्का बिठा दिया। वह यह तो कहे जाता है कि मैं चीन के किसी अंश पर अधिकार करना नहीं चाहता, फिर भी उसकी विजयी सेनाएँ दिन-दिन आगे बढ़ रही हैं और नये नये नामसे नये-नये राज्यों की सृष्टि हो रही है। इसका मंशा क्या यह तो नहीं है कि चीन को कई स्वतन्त्र भागों में विभाजित करके जापान उनपर सरपंच बनकर राज्य करे। चीन कई स्वतंत्र टुकड़ों में हो जाने पर संयुक्त होकर जापान के सामने न आ सकेगा और जापान उनको उसी तरह नचायेगा जैसे अँग्रेजी सरकार हमारे राजाओं को नचाती रहती है। उधर चीनी तुर्किस्तानमें क्रान्ति हो गयी है और ऐसा मालूम होता है कि वहाँ जनता ने सोवियट शासन स्थापित कर लिया। इंगलैंड और अमेरिका आदि का इस अवसर पर चुप साध जाना एक रहस्य है। यह तो हम नहीं मान सकते कि आर्थिक संकट और अन्य संकटों के कारण कोई राष्ट्र इस दशा में नहीं है कि जापान से कुछ कह सके। इंगलैंड और अमेरिका के स्वार्थ पर अगर प्रत्यक्ष रूप से कोई आघात होता, तो उन्हें आर्थिक संकट की बिलकुल चिन्ता न होती। जनता को चाहे जितना कष्ट हो रहा हो, शासन कर्ताओं पर इसका कोई असर नहीं। नये

नये जहाज़ बन रहे हैं, खर्च ज्यों का त्यों है। बात यह है कि चीन में बोलशेविज्म का असर बढ़ता जाता था, और संभव था कि दस-बीस साल में चीन और रूस दोनों ही एक संयुक्त सोवियट शासन स्थापित कर लेते। अलग-अलग रहने पर भी एक ही आदर्श के अनुयायी होने के कारण उनमें विशेष आत्मीयता रहती ही। चीन जैसे आबाद और धनवान देश का सोवियट में आ जाना संसार में उथल-पुथल मचा देता। इंगलैंड और फ्रांस और जर्मनी के बूते की बात न थी कि वे इस प्रवाह को रोक लेते। जापान ने चीन पर आक्रमण करके उस समस्या को कम से कम पचास साल के लिए पीछे ढकेल दिया है। और यही कारण है कि योरप का कोई राष्ट्र चूँ नहीं कर रहा है। सबके सब दिल में जापान को दुआएँ दे रहे हैं कि उसने आगे आकर उन सबों की लाज रखली। रहा रूस। उसे साम्राज्यवाद से तो कोई संबंध है नहीं, न वह चीन को अपने राज्य में मिलाने ही का इच्छुक है। वह तो यही चाहता है कि चीन पर चीन की जनता का अधिकार हो। जापानके साम्राज्यवाद ने पूर्व से चीन पर धावा किया है, तो पच्छिम से तुर्किस्तान की क्रान्ति ने भी हमला कर दिया है...।

(जापान और चीन; हंस, मई १९३३) कम्युनिज्म और सोवियत रूस के बारे में देखिए वेक्या कहते हैं :

...समाज व्यवस्था में बड़े वेग से क्रांति हो रही है। कम्युनिज्म का प्रचार हो या न हो; पर समाज का आदर्श बदल गया है। भारत जैसे रूढ़ियों के गुलाम देश दस-बीस

साल और परलोक-चिन्तन में पड़े रहें; लेकिन संसार समष्टि की ओर जा रहा है और सच पूछो तो समष्टिवाद की अनीश्वरता जो हर आदमी के लिए समान अवसर की व्यवस्था करती है, जो किसी का जन्मसिद्ध या परम्परागत विशेष अधिकार नहीं मानती, ईश्वरता के कहीं निकट है।...

('हंस' सन् ३६)

और

साम्राज्यवाद और व्यवसायवाद की जड़ें तक हिलने लगी हैं। जिस संगठन पर यह संस्कृति ठहरी हुई थी, उस संगठन में कंपन शुरू हो गया है। मनुष्य ने जिन कृत्रिम साधनों का आविष्कार करके मानव जीवन को कृत्रिम बना दिया था, उनकी कलई खुलने लगी है। स्वार्थ से भरी हुई यह गुटबंदी जिसे आज राष्ट्र कहा जाता है और जिसने संसार को नरक बना रखा है, अब टूटने लगी है। शासन की शक्ति अब कुबेर के उपासकों के कठोर और निर्मम हाथों से निकलकर उन लोगों के हाथों में आ रही है जिन्हें राजविस्तार की विशेष कामना न होगी, जो दुर्बलों के रक्त पर चैन करना अपने जीवन का उद्देश्य न समझेंगे, जो सन्तोषप्रद शांति के उपासक होंगे।

(नवयुगः हंस, ३५)

और इतना ही नहीं 'महाजनी सभ्यता' नामके अपने लेख में जो उन्होंने अपनी मृत्यु से दो महीने पहले लिखा था और जो सितंबर, ३६ के 'हंस' में छपा है, उन्होंने प्रगतिशील मानवता को जो अपनी आखिरी वसीयत दी है उससे अधिक कुछ दिया ही नहीं जा सकता। उस लेख को उन्होंने एक फारसी शेर के साथ शुरू किया है जिसका मतलब भी उन्होंने नीचे फुट नोट में दिया है:

हृदय, तू प्रसन्न हो कि पीयूषपाणि मसीहा सशरीर तेरी ओर आ रहा है। देखता नहीं कि लोगों की साँसों से किसी की सुगंधि आ रही है।

फिर, जलते हुए तिलमिलाते हुए शब्दों में महाजनी सभ्यता को, जिसने पैसे ही को दुनिया में सब कुछ बना दिया है और ज़िन्दगी की एक-एक रग में ज़हर घोल दिया है, गालियाँ सुनाने के बाद प्रेमचन्द ने लिखा है :

...परन्तु अब एक नयी सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है, जिसका मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति जो अपने शरीर या दिमाग़ से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का परम सम्मानित सदस्य हो सकता है, और जो केवल दूसरों की मेहनत या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, वह पतिततम प्राणी है। उसे राज्य प्रबन्ध में राय देने का हक़ नहीं और वह नागरिकता के अधिकारों का भी पात्र नहीं। महाजन इस नयी लहर से अति उद्विग्न होकर बौखलाया हुआ फिर रहा है और सारी दुनिया के महाजनों की शामिल आवाज़ इस नयी सभ्यता को कोस रही है, उसे शाप दे रही है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य, धर्मविश्वास की स्वाधीनता और अपनी अंतरात्मा के आदेश पर चलने की आज़ादी, वह इन सबकी घातक, गला घोंट देनेवाली बतायी जा रही है। उसपर नये-नये लांछन लगाये जा रहे हैं, नयी-नयी हुरमतें तराशी जा रही हैं। वह काले से काले रंग में रँगी जा रही है। कुत्सित से कुत्सित रूप में चित्रित की जा रही है। उन सभी साधनों से जो पैसेवालों के लिए सुलभ हैं काम

लेकर उसके विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है। पर सचाई है जो इस सारे अंधकार को चीरकर दुनिया में अपनी ज्योति का उजाला फैला रही है।

निस्संदेह इस नयी सभ्यता ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य के पंजे, नाखून और दाँत तोड़ दिये हैं। उसके राज्य में अब एक पूँजीपति लाखों मजदूरों का खून पीकर मोटा नहीं हो सकता। उसे अब यह आजादी नहीं कि अपने नफे के लिए साधारण आवश्यकता की वस्तुओं के दाम चढ़ा सके, दूसरे अपने माल की खपत कराने के लिए युद्ध करा दे, गोला-बारूद और युद्ध-सामग्री बनाकर दुर्बल राष्ट्रों का दलन कराये। अगर इसकी स्वाधीनता स्वाधीनता है तो निस्संदेह नयी सभ्यता में स्वाधीनता नहीं; पर यदि स्वाधीनता का अर्थ यह है कि जनसाधारण को हवादार मकान, पुष्टिकर भोजन, साफ-सुथरे गाँव, मनोरंजन और व्यायाम की सुविधाएँ, बिजली के पंखे और रोशनी, सस्ता और सद्यः सुलभ न्याय की प्राप्ति हो तो इस समाज-व्यवस्था में जो स्वाधीनता और आजादी है वह दुनिया की किसी सभ्यतम कहानेवाली जाति को भी सुलभ नहीं। धर्म की स्वतंत्रता का अर्थ अगर पुरोहितों, पादरियों, मुल्लाओं की मुफ्तखोर जमात के दंभमय उपदेशों और अंध-विश्वास-जनित रूढ़ियों का अनुसरण है तो निस्संदेह वहाँ इस स्वतंत्रता का अभाव है; पर धर्म-स्वातंत्र्य का अर्थ यदि लोकसेवा, सहिष्णुता, समाज के लिए व्यक्ति का बलिदान, नेकनीयती, शरीर और मन की पवित्रता है, तो इस सभ्यता में धर्माचरण की जो स्वाधीनता है, और किसी देश को उसके दर्शन भी नहीं हो सकते।

जहाँ धन की कमी बेशी के आधार पर असमानता है वहाँ ईर्ष्या, जोर-जबर्दस्ती, बेईमानी, झूठ, मिथ्या अभियोग-आरोप, वेश्यावृत्ति, व्यभिचार और सारी दुनिया की बुराइयाँ अनिवार्य रूप से मौजूद हैं। जहाँ धन का आधिक्य नहीं, अधिकांश मनुष्य एक ही स्थिति में हैं, वहाँ जलन क्यों हो और जब्र क्यों हो ? सतीत्व-विक्रय क्यों हो और व्यभिचार क्यों हो ? झूठे मुकदमे क्यों चलें और चोरी-डाके की वारदातें क्यों हों ? ये सारी बुराइयाँ तो दौलत की देन हैं, पैसे के पैसे हैं। और जब सबके पास पैसे नहीं हैं तो प्रसाद हैं, महाजनी सभ्यता ने इनकी सृष्टि की है। वही इनको पालती है और वही यह भी चाहती है कि जो दलित, पीड़ित अ र विजित हैं, वे इसे ईश्वरीय विधान समझकर अपनी स्थिति पर संतुष्ट रहें। उनकी ओर से तनिक भी विरोध-विद्रोह का भाव दिखाया गया तो उनका सिर कुचलने के लिए पुलिस है, अदालत है, कालापानी है। आप शराब पीकर उसके नशे से बच नहीं सकते। आग लगाकर चाहें कि लपटें न उठें, असंभव है। पैसा अपने साथ यह सारी बुराइयाँ लाता है, जिन्होंने दुनिया को नरक बना दिया है। इस पैसा-पूजा को मिटा दीजिए, सारी बुराइयाँ अपने आप मिट जायेंगी, जड़ न खोद कर केवल फुनगी की पत्तियाँ तोड़ना बेकार है। यह नयी सभ्यता धनाढ्यता को हेय और लज्जाजनक, तथा घातक विष समझती है।......

धन्य है वह सभ्यता जो मालदारी और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त कर रही है और जल्दी या देर से दुनिया उसका पदानुसरण अवश्य करेगी। यह सभ्यता अमुक देश

की समाज-रचना अथवा धर्म-मजहब से मेल नहीं खाती या उक्त वातावरण के अनुकूल नहीं है—यह तर्क नितान्त असंगत है। ईसाई मजहब का पौधा यरूशलम में उगा और सारी दुनिया उसके सौरभ से बस गयी। बौद्ध धर्म ने उत्तर भारत में जन्म ग्रहण किया और आधी दुनिया ने उसे गुरु-दक्षिणा दी। मानव स्वभाव अखिल विश्व में एक ही है। छोटी-मोटी बातों में अन्तर हो सकता है; पर मूलस्वरूप की दृष्टि से सम्पूर्ण मानव जाति में कोई भेद नहीं। जो शासन-विधान और समाज-व्यवस्था एक देश के लिए कल्याणकारी है, वह दूसरे देशों के लिए भी हितकर होगी। हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके गुरगे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जनसाधारण को बहकावेंगे, उनकी आँखों में धूल झोंकेंगे; पर जो सत्य है एक-न-एकदिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।

प्रेमचंद की परंपरा के बारे में क्या अब भी किसी को कोई सन्देह बाकी रहता है?

अपने जीवन की अन्तिम घड़ियों में वह व्यक्तिगत सम्पत्ति, समाज में प्रतिपल चलनेवाले वर्ग-संघर्ष और उसका अन्त करके नयी वर्गहीन मानवता, साम्यवादी दुनिया की रचना का प्रश्न ही पूरी तरह उनके मन पर छाया हुआ था। प्रेमचन्द की सारी कृतियाँ साक्षी हैं कि उन्होंने समाज के सबसे नग्न और भीषण पर ज्वलन्त सत्य, वर्ग-संघर्ष को न स्वीकार करने के लिए जीवन-पर्य्यन्त, आप्राण कोशिश की। लेकिन जीवन के शेष मुहूर्त में आकर सत्य की विजय हुई और सत्य के आगे सदा माथा नवानेवाले प्रेमचन्द ने सत्य के आगे आखरी बार माथा नवाया और वर्ग-संघर्ष को समाज के कठोरतम सत्य के

रूप में स्वीकार किया। इसका साक्षी है उनका अन्तिम और अपूर्ण, आत्मचरितात्मक उपन्यास 'मंगल सूत्र' जिसमें उन्होंने लिखा है :

(उपन्यास के नायक) पं० देवकुमार जी को धनकियों से झुकाना तो असम्भव था, मगर तर्क के सामने उनकी गर्दन आप-ही-आप झुक जाती थी। इन दिनों वह यही पहेली सोचते रहते थे कि संसार की कुव्यवस्था क्यों है? कर्म और संस्कार का आश्रय लेकर वह कहीं न पहुँच पाते थे। सर्वात्मवाद से भी उनकी गुत्थी न सुलझती थी। अगर सारा विश्व एकात्म है तो फिर यह भेद क्यों है? क्यों एक आदमी जिन्दगी भर बड़ी-से-बड़ी मेहनत करके भी भूखों मरता है और दूसरा आदमी हाथ-पाँव न हिलाने पर भी फूलों की सेज पर सोता है? यह सर्वात्म है या घोर अनात्म? बुद्धि जवाब देती—यहाँ सभी स्वाधीन हैं, सभी को अपनी शक्ति और साधना के हिसाब से उन्नति करनेका अवसर है। मगर शंका पूछती—सबको समान अवसर कहाँ है? बाजार लगा हुआ है। जो चाहे वहाँ से अपनी इच्छा की चीज खरीद सकता है। मगर खरीदेगा तो वही जिसके पास पैसा है। बराबर का अधिकार कैसे माना जाय......कहाँ है न्याय? कहाँ है? एक गरीब आदमी किसी खेत से बालें नोचकर खा लेता है, कानून उसे सजा देता है। दूसरा अमीर आदमी दिन-दहाड़े दूसरों को लूटता है और उसे पदवी मिलती है, सम्मान मिलता है। कुछ आदमी तरह-तरह के हथियार बाँधकर आते हैं और निरीह, दुर्बल मजदूरों पर आतंक जमाकर अपना गुलाम बना लेते हैं। लगान और टैक्स और महसूल और और कितने ही नामों से उसे लूटना शुरू करते हैं और आप

लँबा-लंबा वेतन उड़ाते हैं, शिकार खेलते हैं, नाचते हैं, रंगरेलियाँ मनाते हैं। यही है ईश्वर का रचा हुआ संसार? यही न्याय है?

हाँ, देवता हमेशा रहेंगे और हमेशा रहे हैं। उन्हें अबभी संसार धर्म और नीति पर चलता हुआ नज़र आता है। वे अपने जीवन की आहुति देकर संसार से विदा हो जाते हैं। लेकिन उन्हें देवता क्यों कहो? कायर कहो, स्वार्थी कहो, आत्मसेवी कहो। देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे अगर वह जानकर अनजान बनता है तो धर्म से गिरता है। अगर उसकी आँखों में यह कुव्यवस्था खटकती ही नहीं तो वह अंधा भी है और मूर्ख भी, देवता किसी तरह नहीं। देवताओं ने ही भाग्य और ईश्वर और भक्ति की मिथ्याएँ फैलाकर इस नीति का अमर बनाया है। मनुष्य ने अब तक इसका अंत कर दिया होता या समाज का ही अंत कर दिया होता जो इस दशा में जिन्दा रहने से कहीं अच्छा होता। नहीं, मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच में, उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं, जड़ता है।

मार्च सन् ३६ में प्रेमचंद ने लिखा था:

कविता में अगर जागृति पैदा करने की शक्ति नहीं है तो वह बेजान है। आप हाला बाँधें या तंत्री के तार या बुलबुल और कफ़स, उसमें जीवन को तड़पानेवाली शक्ति होनी चाहिए। प्रेमिकाओं के सामने बैठकर आँसू बहाने का यह जमाना नहीं है। उस व्यापार में हमने कई सदियाँ

खो दीं, विरह का रोना रोते रोते हम कहीं के न रहे। अब हमें ऐसे कवि चाहिए जो हजरते इकबाल की तरह हमारी मरी हुई हड्डियों में जान डालें। देखिए इस कवि ने लेनिन को खुदा के सामने ले जाकर क्या फरियाद करायी है और उसका खुदा पर इतना असर होता है कि वह अपने फरिश्तों को हुक्म देता है :

उट्ठो, मेरी दुनिया के ग़रीबों को जगा दो,
काखे-उमरा[1] के दरो दीवार हिला दो।
गरमाओ गुलामों का लहू सोज़े यक़ीं[2] से,
कुंजिश्क[3] फ़रोमाया[4] को शाहीं[5] से लड़ा दो।
सुलतानिये-जमहूर[6] का आता है ज़माना,
जो नक़्शे कोहन[7] तुमको नजर आये मिटा दो।
जिस खेत से देहकाँ[8] को मयस्सर नहीं रोज़ी,
उस खेत के हर खोशए-गंदुम[9] को जला दो।

प्रेमचंद की मुहर लगे हुए इन शब्दों को दिल पर पत्थर की लकीर की तरह नक्श करके, उन्हें अपने मजबूत हाथ के झण्डे पर निशान की तरह फहराते हुए हम शांति की लड़ाई में जाते हैं।

———

१. अमीरों के महल २. विश्वास की गर्मी ३. चिड़ा ४. तुच्छ ५. शिक्रा, अत्यंत बलवान पक्षी ६. जनता राज ७. पुराना ८. किसान ९. गेहूँ की बाल।